11

सहकारी कृषि

जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार कानून में यह व्यवस्था थी कि गांव समाज (जो गांव के सभी वयस्क निवासियों की सदस्यता वाली एक संस्था थी) के दस या इससे अधिक भूमिधारी या सीरदारी अधिकार वाले सदस्य, यदि चाहें तो एक सहकारी फार्म गठित और संचालित कर सकते हैं। सहकारी फार्म का निबन्धन हो जाने के बाद भूमिधर, सीरदार या उनके अधीनस्थ असामियों की जोतों समेत गांव की सारी जोतों की जमीन सहकारी फार्म को समर्पित समझी जाएगी।

सहकारी फार्म खोलने के सम्बन्ध में यह प्रावधान हालांकि महज कागजी रह गया, राज्य सरकार इसके बारे में गम्भीर नहीं थी और उसने इसे सिर्फ राष्ट्रीय स्तर के नेता वर्ग की सनक की तुष्टि के लिए विधि-पुस्तिका में स्थान दिया था। फिर भी, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्य समिति देश में सहकारी कृषि की शुरुआत के लिए जनवरी 1959 के दूसरे सप्ताह में आयोजित नागपुर के कांग्रेस अधिवेशन में एक प्रस्ताव लेकर सामने आई।

प्रस्ताव इस प्रकार था :

> भावी कृषि का ढांचा सहकारी संयुक्त खेती का होना चाहिए, जिसमें संयुक्त खेती के लिए भूमि को एकत्रित किया जाएगा, किसानों के स्वामित्व अधिकार बने रहेंगे और असली उत्पादन में उन्हें अपनी भूमि के अनुपात से अपना हिस्सा मिलता रहेगा। फिर, वे लोग भी संयुक्त खेती के क्रम में किए गए अपने काम के अनुपात से अपना हिस्सा प्राप्त करेंगे जो भूमि पर वास्तव में काम करेंगे, चाहे भूखंड पर उनका स्वामित्व हो या न हो।
>
> संयुक्त खेती को संस्थागत रूप देने से पहले, शुरुआती कदम के तौर पर, देश भर में सेवा-सहकारियां गठित की जानी चाहिए। इस चरण का काम तीन वर्षों की अवधि में पूरा कर लिया जाना चाहिए। इस अवधि के दौरान भी जहां कहीं सम्भव हो और किसानों की आम सहमति हो, वहां संयुक्त खेती

शुरू की जा सकती है।

अतिरिक्त भूमि (बड़े फार्मों पर हदबन्दी लागू होने से उपलब्ध) पंचायतों को सौंपी जानी चाहिए और सहकारियों द्वारा उसकी देखरेख होनी चाहिए।

चरण सिंह ने, जो अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य और उत्तर प्रदेश के राजस्व मंत्री थे, सहकारी खेती के विरोध में बहुत ही जोरदार और तर्कपूर्ण ढंग से अपना पक्ष प्रस्तुत किया। उन्होंने बताया कि भूमि और श्रम के एकत्रीकरण से कृषि के उत्पादन में वृद्धि होने के बजाए कमी ही आएगी और फिर यह योजना अव्यावहारिक होने के साथ-साथ हमारी लोकतांत्रिक जीवन-पद्धति के प्रतिकूल भी है।

उन्होंने बीस वाले दशक के दौरान सोवियत संघ में स्थापित कोलखोज या सामूहिक फार्म का गहरा अध्ययन किया था और इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि यह हमारी समस्याओं का किसी अन्य भूमि-व्यवस्था की अपेक्षा बेहतर समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकता। उन्होंने 1946 में 'एबोलिशन ऑफ जमींदारी'[1] (जमींदारी का उन्मूलन) शीर्षक पुस्तक लिखी थी जिसमें उन्होंने अपने उपर्युक्त दृष्टिकोण की वकालत की थी। उन्होंने 1956 में भी 'ह्विदर को-ऑपरेटिव फार्मिग ?' (सहकारी कृषि किधर ?) शीर्षक पुस्तक लिखी थी जिसकी भूमिका उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री डॉ० सम्पूर्णानन्द ने लिखी थी। उन्होंने 1958 में 'को-ऑपरेटिव फार्मिग एक्सरेड'[2] (सहकारी कृषि की पड़ताल) शीर्षक से एक और भी विस्तृत पुस्तक लिखी थी, जिसे 5 जनवरी 1959 को नागपुर अधिवेशन के लिए लखनऊ से रवाना होने से पहले ही वह अन्तिम रूप दे चुके थे। यह पुस्तक संशोधित और परिर्वधित रूप में 'इंडियाज पावर्टी एण्ड इट्स सोल्यूशन'[3] (भारत की गरीबी और इसका समाधान) शीर्षक से पुनः प्रकाशित हुई थी। इसके पृष्ठ 165-66 पर ये अनुच्छेद थे :

> सामूहिक मवेशी फार्म की सिफारिश करते हुए महात्मा गांधी ने 15 फरवरी 1942 के 'हरिजन' में लिखा था :
>
> मेरा दृढ़ विश्वास है कि हम कृषि से तब तक पूरा लाभ नहीं उठा सकेंगे जब तक कि सहकारी कृषि को अपना नहीं लेते। क्या यह तर्कसंगत नहीं है कि किसी गांव के एक सौ परिवारों के लिए यह कहीं बेहतर है कि वे सामूहिक रूप से अपनी जमीन पर खेती करें और उससे होने वाली आमदनी को बांट लें, बजाए इसके कि जमीन को जैसे-तैसे सौ भागों में विभाजित कर लें ?

---

1. किताबिस्तान, इलाहाबाद, 1947
2. एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1959
3. एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई

और जो बात जमीन पर लागू होती है वही समान रूप से मवेशियों पर भी।

फिर भी, जैसा कि पिछले पृष्ठों में बताया जा चुका है, यह तर्कसंगत नहीं है कि छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित और अलग-अलग रूप से जोते जाने वाले भूखंडों की अपेक्षा एक इकाई के रूप में संयुक्त रूप से संचालित बड़ा भूखंड प्रति एकड़ ज्यादा उपज दे।

सहकारी कृषि के पक्षधर जब अपना मुद्दा उछालने के लिए गांधीजी की राय का हवाला देते हैं तो उन्हे यह याद रखना चाहिए कि गांधीजी विश्वगुरु थे, और हर क्षेत्र तथा देश के विश्वगुरुओं का यही विश्वास और उपदेश रहा है कि प्रेम-भावना का इतना व्यापक विस्तार हो कि पूरा गांव देश और वस्तुतः सारा विश्व उसके दायरे में आ जाए। 'वसुधैव कुटुम्बकम्', यानी पूरा विश्व एक परिवार है, यह प्राचीन आदर्श हमारे धार्मिक आख्यानों में अन्तर्निहित है। लेकिन राजनैतिक दल और प्रशासक पृथ्वी पर ईश्वर के साम्राज्य के लिए कार्य नहीं करते या योजना नहीं बनाते। जो कुछ भविष्य में व्यवहार्य है, उसी के लिए वे कार्य करते हैं।

महात्मा जी स्वयं सावधान कर गए थे कि सहकारी खेती "सिर्फ तभी संभव होगी जब लोग एक-दूसरे से मैत्रीभाव रखेंगे और एक परिवार की तरह रहेंगे। जब वह सुखमय स्थिति आएगी, जब साम्प्रदायिक उपद्रव विगत दिनों की बात हो जाएंगे···" फिर भी उन्होंने चेताया था कि सहकारिता जबरन या मजबूर करके बिलकुल नहीं लाई जानी चाहिए, यह ऊपर से लादी नहीं जाए, इसे बिलकुल अहिंसा पर आधारित और नीचे से ऊपर की ओर विकसित होना चाहिए।

महात्मा जी ने जिस 'सुखमय स्थिति' या आपसी सम्बन्धों की बात कही थी वह आ गई है या नहीं, इसका निर्णय किसी बाहरी एजेन्सी को नहीं बल्कि स्वयं किसानों को करना है।

फिर, महात्मा गांधी के मन में कोई दुविधा या गांठ नहीं थी, न ही विवेक पर एकाधिकार का उनका दावा था। संयुक्त कृषि के बारे में उनकी टिप्पणियों पर मैं सम्मानपूर्वक कहना चाहूंगा कि वे कुछ आकस्मिक तौर पर की गई थीं। इस समस्या पर वे कुछ समय निकाल पाये होते और वास्तविक क्षेत्र का अनुभव उन्होंने कर लिया होता तो अपनी भूल को स्वीकारने में भी उन्हें हिचक नहीं होती। उन्होंने प्रतिष्ठा को अपने मार्ग में कभी आने नहीं दिया।

न ही कोई माटी का पुतला मनुष्य, जो कि हम हैं, सभी अन्य बातों में गांधीजी ने जो कुछ कहा या उपदेश दिया उसी का अनुसरण करता है, उदाहरण के लिए, जनसंख्या नियंत्रण के एकमात्र वांछनीय साधन के रूप में उन्होंने आत्म-संयम की वकालत की थी, लेकिन योजना आयोग और भारत सरकार उत्साहपूर्वक उन्हीं सारे आधुनिक उपायों का प्रचार कर रही है जो गांधी जी के लिए निषिद्ध थे।

जनवरी (1959) के दूसरे सप्ताह में हुई अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक की कार्यवाही की प्रेस रिपोर्ट के निम्नांकिन उद्धरणों से पता चलेगा कि कांग्रेस प्रतिनिधियों के मन पर चरण सिंह के भाषण ने कैसी जबरदस्त छाप छोड़ी थी तथा यह भी कि चोटी के कांग्रेसी नेताओं तक में अपनी बात खुलकर कहने के लिए राजनीतिक साहस की कितनी कमी थी :

'करेंट', बम्बई, 14 जनवरी 1959 से उद्धृत

"प्रस्ताव के आधारमूलक सिद्धान्तों के कुछ विरोधियों का नेतृत्व उत्तर प्रदेश के राजस्व मंत्री श्री चरण सिंह ने किया, जिन्होंने आगाह किया कि सहकारी कृषि को लाया जाना भारतीय लोकतन्त्र के लिए मृत्यु का सन्देश होगा।"

"इस अधिवेशन में चरण सिंह ने 'विरोध पक्ष के नेता' की भूमिका निभाई और साफ-साफ प्रतिनिधियों से कहा कि सहकारी कृषि सफल नहीं होगी और यह कि खाद्यान्नों का राज्य-व्यापार बिलकुल ही अव्यावहारिक है। अत्यधिक राष्ट्रीयकरण की नीति की उन्होंने जब भर्त्सना की तब प्रतिनिधियों ने करतल-ध्वनि की। मगर जब प्रस्ताव पर मत लिए गए तब मुश्किल से आधे दर्जन हाथ विरोध में उठे।"

"वह दिन श्री नेहरू का रहा। प्रतिनिधि जानते थे कि प्रधानमंत्री उनके मत इसके पक्ष में चाहते हैं और उन्होंने दिए।"

"चोटी के नेताओं और कार्यसमिति के सदस्यों समेत जिन अनेक कांग्रेसियों से मैं मिला, वे पूरे प्रस्ताव को लेकर खुले तौर पर संशयग्रस्त थे। उन्होंने कहा कि सहकारी कृषि और राज्य द्वारा खाद्यान्नों का व्यापार दोनों की विफलता निश्चित है।"

"उन्होंने प्रस्ताव का विरोध क्यों नहीं किया।" मैंने पूछा।

विशिष्ट उत्तर मुझे केन्द्रीय मंत्रिमंडल के एक सदस्य से मिला।

"हमें पता है कि हमारा विरोध प्रधानमंत्री को पसंद नहीं। हम दरअसल उन्हें नाखुश नहीं करना चाहते।"

'नेशनल हेराल्ड' 18 जनवरी 1959 से उद्धृत

चरण सिंह द्वारा सहकारी कृषि का विरोध : राज्य-व्यापार से असन्तोष बढ़ने की सम्भावना

अभयंकरनगर, जनवरी 1 : उत्तर प्रदेश के राजस्व मंत्री चरण सिंह ने आज कांग्रेस की विषय समिति में प्रस्ताव पर बहस के दौरान कृषि ढांचे से सम्बन्धित

पूरे प्रस्ताव का, सेवा सहकारियों के गठन और पुनः प्राप्त की गई भूमि पर सरकार द्वारा खेती वाले प्रावधानों को छोड़ते हुए, विरोध किया।

श्री चरण सिंह ने कहा कि वह बड़ी-बड़ी जोतों को तोड़ने और भूमिहीनों में उनके वितरण के विरुद्ध नहीं थे। वह चाहते थे कि यह काम सरकार के सीधे सामने आये बिना सम्पन्न हो। इसलिए उन्होंने सुझाव दिया कि सरकार को बड़ी जोतों के लिए एक कराधान कार्यक्रम इस तरह से तैयार करना चाहिए कि अपने जोत-क्षेत्र में कमी लाना उनके लिए आवश्यक हो जाए। उन्होंने कहा कि अगर ऐसी पद्धति नहीं अपनाई गई और सरकार ने भूमि-वितरण की जिम्मेवारी अपने ऊपर ले ली, तो लोगों में असन्तोष फैलेगा ही और विपक्षी दल उस स्थिति का पूरा लाभ उठाएंगे।

श्री चरण सिंह इस तरह की सहकारियों के पीछे दिए जाने वाले इस मूल तर्क से असहमत थे कि भूमि के एकत्रीकरण से उत्पादन बढ़ाने में सहायता मिलेगी। कृषि उत्पादन में वृद्धि का रास्ता संसाधनों का एकत्रीकरण है, भूमि का नहीं। सेवा-सहकारियों के विचार का उन्होंने समर्थन किया; क्योंकि उन्हें संसाधनों का एकत्रीकरण नहीं करना पड़ेगा।

सहकारी फार्म

श्री चरण सिंह ने कहा कि सहकारी फार्म भारत में सफल नहीं होंगे। उन्हें विश्व में कहीं भी सफलता नहीं मिली है, इजरायल को छोड़कर, जहां की स्थितियां भिन्न थीं। चीन तक में सहकारी फार्म एक अस्थायी दौर साबित हुए और अंततः सामूहिक फार्मों और कम्यूनों ने उनकी जगह ली।

उन्होंने कहा कि एक इस तथ्य का अवश्य ही यथार्थवादी ढंग से सामना किया जाना है कि सारी वैज्ञानिक उपलब्धियों के बावजूद मनुष्य का मन अभी तक उसी तंग नाले में विचर रहा है, जहां दो हजार साल पहले विचरता था। अगर स्वामित्व को तुरन्त समाप्त कर दिया गया तो किसान सहकारी में शामिल होंगे ही नहीं, अगर स्वामित्व अधिकार बना रहे तो किसान एक या दो मौसम तक सहकारी खेती करेंगे, लेकिन उसके बाद उससे निकलने की कोशिश करेंगे। अगर यह समझ लिया जाए कि जोतदार इस तरह का स्वार्थी जीव नहीं और वह खेती के सहकारी मार्ग को पूरा समर्थन देगा, तो वह 'संन्यासी' हो जाएगा और खेतिहर नहीं रह जायेगा।

राज्य-व्यापार

श्री चरण सिंह ने कहा कि अगर सरकार ने खाद्यान्नों के थोक व्यापार को अपने हाथ में ले लिया तो तर्कपूर्ण कदम यह होगा कि खुदरा व्यापार को भी हाथ में ले ले। अगर खुदरा व्यापार निजी व्यापारियों के पास रहने दिया गया तो राज्य

मशीनरी खुदरा व्यापारियों को लाइसेंस देगी, जिसका अर्थ होगा—पक्षपात की गुंजाइश।

खाद्यान्नों के थोक और खुदरा व्यापार को हाथ में लेते हुए सरकार कारोबार की एक बहुत ही बड़ी जिम्मेदारी हाथ में ले रही होगी तथा नौकरशाही तन्त्र का विस्तार होगा। 'अनाजों के भंडारण के लिए गोदाम कहां हैं ?' उन्होंने पूछा। उन्हें आशंका थी कि खाद्यान्नों के राज्य-व्यापार से देश में असंतोष की भावना का व्यापक विस्तार होगा।

दैनिक 'हिन्दुस्तान' से उद्‌धृत

कृषि पुनर्गठन सम्बन्धी प्रस्ताव विषय समिति में स्वीकृत

10-1-59

उत्तर प्रदेश के मालमंत्री श्री चरण सिंह ने प्रस्ताव के विरोध में तर्कपूर्ण दलील देकर विषय समिति का दिल और दिमाग तो जीत लिया, किन्तु जबान नहीं जीत सके।

श्री चरण सिंह के विचारों का सदस्यों तथा हजारों श्रोताओं ने बार-बार जोरों की तालियां बजाकर स्वागत किया। उनकी दलीलों का उत्तर देने के लिए चार मंत्रियों—केन्द्रीय मंत्री श्री अजित प्रसाद जैन और श्री एस० एन० मिश्र तथा मध्य प्रदेश के मंत्री श्री गंगवाल और मद्रास के वित्तमंत्री श्री सुब्रह्मण्यम ने प्रयत्न किया। किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि वे उनकी एक भी तर्कपूर्ण दलील का उत्तर नहीं दे सके। श्री अजित प्रसाद जैन को यह स्वीकार करना पड़ा कि श्री चरण सिंह की दलीलें भावपूर्ण नहीं, तर्कपूर्ण हैं।

नागपुर कांग्रेस अधिवेशन : एक सिंहावलोकन

19-1-1959

विषय समिति की बैठक में योजना सम्बन्धी प्रस्ताव पर बहस के समय हस्तक्षेप करते हुए नेहरू जी ने प्रस्ताव के आलोचकों का इतना अधिक मजाक उड़ाया और उन पर इतने क्रुद्ध हो गए कि विषय समिति के सदस्य तथा अधिवेशन के प्रतिनिधि इस हद तक डरे हुए थे कि उन्हें समूचे अधिवेशन में कांग्रेस कार्य-समिति के प्रस्तावों की आलोचना करने की हिम्मत ही नहीं हुई। उत्तर प्रदेश के मंत्री चौ० चरण सिंह ही एक मात्र ऐसे व्यक्ति निकले, जिन्होंने नेहरू जी की उपस्थिति में भी प्रस्ताव का जबर्दस्त विरोध किया और प्रभावशाली भाषण दिया। कांग्रेस के इस अधिवेशन में गये व्यक्तियों से यदि आप पूछें कि इस अधिवेशन में किसका भाषण सबसे अधिक जोरदार था, तो उनका उत्तर होगा, चरण सिंह का।

दैनिक 'नवभारत टाइम्स', दिनांक 22-1-1959 से उद्धृत

चरण सिंह द्वारा कृषि प्रस्ताव का विरोध

इस प्रस्ताव पर हुए सारे ही विवाद में प्रस्ताव के विरोध में यदि कोई तगड़ा भाषण हुआ, तो वह उत्तर प्रदेश के माल मंत्री श्री चरण सिंह का था। उन्होंने सेवा-सहकारिता समिति तथा परती जमीन, इस विषय से सम्बन्धित प्रस्ताव के दो अंशो को छोड़कर प्रस्ताव की हर बात का विरोध किया। उनके विरोध में न हिचकिचाहट थी और न संकोच। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि वह प्रस्तुत विषय से इतने परिचित थे कि अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने जो तर्क प्रस्तुत किए, वे ऐसे ठोस आंकड़ों पर आधारित थे कि उनके बाद प्रस्ताव के पक्ष में बोलने वाले वक्ताओं में से किसी ने उनकी प्रामाणिकताओं को चुनौती नहीं दी।

नेहरू के स्थान पर राजनैतिक पार्टी का कोई भी दूसरा नेता होता, तो वह वहीं और उसी समय मंच पर चरण सिंह को उनकी योग्यतापूर्ण वक्तृता के लिए बधाई देता, लेकिन नेहरू उल्टे क्षुब्ध और कुपित हुए। जैसा कि अन्त में इसकी परिणति हुई, इस महत्त्वपूर्ण सवाल पर चरण सिंह द्वारा अपने विचारों की अभिव्यक्ति ही उनके उस इस्तीफे की मंजूरी का मुख्य कारण साबित हुई, जो उन्होंने मार्च 1959 में दिया था।

प्रधानमंत्री की 2 मार्च 1959 को लखनऊ की यात्रा के दौरान चरण सिंह ने उन्हें बताया कि मुख्यमंत्री डॉ० सम्पूर्णानन्द राज्य को एक साफ-सुथरा और सक्षम प्रशासन देने में असमर्थ हैं तथा उन्हें पता नहीं कि जनता, खासकर गांवों में रहने वाली जनता किन समस्याओं से जूझ रही है, या कौन-सा विषय या विभाग किस मंत्रालय के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आता है, और भ्रष्टाचार या अक्षमता पर तो वे त्यौरी चढ़ाते ही नहीं। अपनी बातचीत के क्रम में वह अपने साथ 13 मार्च का लिखा तथ्यों व दलीलों से भरा एक सोलह पृष्ठ का पत्र भी ले गए थे, ताकि प्रधानमंत्री यदि इस मुद्दे को मुख्यमंत्री के समक्ष उठाना चाहें तो संदर्भ तैयार मिले। फिर भी नेहरू की प्रतिक्रिया उसके ठीक विपरीत थी, जिसकी चरण सिंह को अपेक्षा थी, इसका आभास निम्नांकित टिप्पणियों से मिलेगा जो प्रधानमंत्री ने 21 मार्च के अपने उत्तर में की थीं :

> "हम एक ऐसे देश में कार्यरत हैं जो अपने अनेक गुणों के होते हुए भी, सामाजिक और आर्थिक तौर पर पिछड़ा हुआ है, और इन सभी पिछड़ेपन के परिणाम हम भुगतते हैं; चाहे जो भी करें···डॉ० सम्पूर्णानन्द की विफलताएं एक बुद्धिजीवी की विफलताएं हैं, जो कभी-कभी उनके रास्ते में आ जाता

है। उनका वही गुण व्यक्तियों और समूहों से दूर रखने की कोशिश में उनकी राह में आता है। मैं उनके या किसी अन्य व्यक्ति की अच्छी बातों या कमियों के बारे में सरलतापूर्वक लिख सकता हूं। इससे अधिक मदद नहीं मिलेगी। हमें व्यक्तियों को वैसे ही लेना है जैसे वे हैं और परिस्थितियां जैसी हैं, उसी पर निर्णय लेना है।" (अतिरिक्त बल)

चरण सिंह ने उपर्युक्त पत्र का उत्तर देते हुए 3 अप्रैल 1959 को उन्हें इस प्रकार लिखा :

"अब, मैं अगर आपके 21 मार्च के पत्र में उत्तर प्रदेश सरकार के मामले में कुछ नहीं करने और डॉ० संपूर्णानन्द को उनकी मर्जी के अनुसार कार्य करने देने के लिए दी गयी दलीलों का संक्षिप्त उत्तर दे रहा हूं तो इसके लिए क्षमा किए जाने की मुझे उम्मीद है। ऐसा लगता है कि आपके अनुसार व्यक्ति जबकि महत्त्वपूर्ण है तो प्रशासन में अक्षमता और दृढ़ता की कमी का असली कारण देश के सामाजिक और आर्थिक पिछड़ेपन में निहित है। मैं मतभेद अर्ज करता हूं : मेरी राय में असली कारण व्यक्तियों में निहित है, अर्थात इसमें कि सरकार के सदस्य स्वयं सक्षम हैं या नहीं और उनके निजी आचरण नुक्ताचीनी से ऊपर हैं या नहीं तथा जनता को ऊपर उठाने के लिए समर्पण-भावना उनमें कूट-कूट कर भरी हुई है या नहीं। व्यक्ति उतने ही परिस्थितियों के सर्जक हैं जितने कि वे उनकी देन हैं।

यह सच है कि हममें से सर्वोत्तम के विरुद्ध किसी किस्म का आरोपण किया जा सकता है, लेकिन डॉ० सम्पूर्णानन्द के विरुद्ध जो आरोपण मैंने किया है, वह महज किसी या साधारण किस्म का आरोपण नहीं है। ऐसे आरोपण उनके पूर्ववर्ती के विरुद्ध या बम्बई और मद्रास के मुख्यमंत्रियों के विरुद्ध नहीं किए जा सकते थे। भारत की कांग्रेसी सरकार के सिवा अन्य किसी भी देश की लोकतांत्रिक सरकार ऐसे आरोपण की एक चौथाई से ही बीहड़ों में ठोकरें खाने के लिए भेज दी गयी होती और उस पर अफसोस जताने के लिए कोई भी नहीं होता। सार्वजनिक आचरण का अच्छा स्तर नहीं कायम कर पाने के लिए या किसी देश द्वारा अपने प्रतिनिधियों से जो अपेक्षा की जाती है, उसके घोरतम उल्लंघन को माफ कर देने के लिए यह बहाना नहीं चल सकता कि हमारा देश सामाजिक और आर्थिक तौर पर पिछड़ा हुआ है···।

पंडित जी, मुझे क्षमा करें अगर मैं यह अनुभव करूं कि कोई ऐसी बात है जिसका गुण-दोष से कुछ लेना-देना नहीं, लेकिन जो उत्तर प्रदेश में सही-सही कुछ करने से आपको रोकती है। मैं ईमानदारी से यकीन करता हूं और

इस यकीन के पीछे समुचित तर्क हैं कि संयुक्त खेती अव्यवहारिक है, यह लोकतन्त्र को क्षति पहुंचाएगी, उत्पादन में कमी लाएगी और बेरोजगारी का कारण बनेगी। ये विचार सिर्फ मेरे नहीं बल्कि कम-से-कम 90 प्रतिशत कांग्रेस कार्यकर्ताओं के हैं जो मूलतः किसान हैं या देहाती क्षेत्र की स्थितियों के बारे में हर बात की जानकारी रखते हैं। लेकिन किसी में साहस नहीं कि खुले तौर पर इससे असहमति जाहिर करें। और यही महारोग है, जिससे आज कांग्रेस संगठन ग्रस्त है····।"

चरण सिंह ने अपना पत्र यह कहते हुए समाप्त किया कि वह महसूस करते हैं कि कुछ सवालों पर अपने विचारों के चलते पासा उनके खिलाफ है और यह समय ही बताएगा कि वह सही थे या गलत।

नेहरू जी ने जवाब में चरण सिंह की टिप्पणियों पर अपनी प्रतिक्रिया 3 अप्रैल 1959 के पत्र में इस प्रकार जाहिर की :

"आपने अपने पत्र के अन्त में अपनी इस भावना का हवाला दिया है कि कुछ सवालों पर अपने विचारों के चलते आप असुविधाओं के बीच संघर्षरत रहे हैं। मैं समझता हूं कि आपका मतलब संयुक्त सहकारी खेती से है। मैं नहीं सोचता कि इसी खास बात ने वास्तव में किसी निर्णय को प्रभावित किया, हालांकि **यह हो सकता है कि अनजाने में इसकी छाप पड़ी हो**।" (अतिरिक्त बल)

अब, ऐसा कोई भी व्यक्ति, जो कांग्रेस में कुछ हैसियत रखता रहा हो या देश के सार्वजनिक मामलों का अच्छा जानकार रहा हो, इससे सम्भवतः इंकार नहीं कर सकता था कि चरण सिंह के बारे में पंडित नेहरू के मन पर उसी तरह की 'छाप' पड़ चुकी थी जिसका जिक्र उन्होंने ऊपर दिए गए पत्र में किया, क्योंकि चरण सिंह ने पूरी शक्ति से सहकारी खेती की उनकी प्रिय योजना का विरोध करने की धृष्टता की थी, जिससे चरण सिंह की राय में, देश की कृषि-अर्थव्यवस्था चौपट हो जाती।

भारतीय पत्रकारिता के महारथी और उत्तर प्रदेश कांग्रेसी अखबार 'नेशनल हेराल्ड', लखनऊ के लिए जवाहरलाल नेहरू द्वारा चुने गए संपादक श्री चलपति राव ने चरण सिंह के इस्तीफे को स्वीकार किए जाने के मुद्दे पर 23 अप्रैल 1959 को उनकी प्रशंसा में लिखा था :

चरण सिंह का इस्तीफा

श्री चरण सिंह के इस्तीफे में वैयक्तिक और सांगठनिक दोनों ही तरह की त्रासदी निहित है। उनका जाना उत्तर प्रदेश प्रशासन के लिए एक क्षति है और डॉ॰ संपूर्णानन्द ने भी एक ऐसे योग्य, अति उत्साही और घोर

परिश्रमी सहयोगी को खो दिया है जो अपनी सत्यनिष्ठा के लिए प्रसिद्ध है, जबकि ऐसी प्रसिद्धि आज दुर्लभ है। ऐसे बहुत से अवसर थे जब नीति को लेकर चरण सिंह से हमारा गम्भीर मतभेद रहा, लेकिन उद्देश्य के प्रति उनकी ईमानदारी, संबद्ध विषय की उनकी जानकारी और कर्तव्य के प्रति उनकी निष्ठा पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं लग सकता था। अपने अंतिम कार्यकाल के दौरान वह विद्युत और सिंचाई जैसे बहुत ही बदनाम, उन दो विभागों में व्याप्त भ्रष्टाचार की जांच का व्यापक रूप से प्रशंसित कार्य कर रहे थे, जो ताजा खबरों के अनुसार अब उनके इस्तीफे की मंजूरी पर जश्न मनाने के लिए तैयार बैठे हैं, लेकिन खोजी जांच से जो बच नहीं सकते। कहानी का यह हिस्सा फिर भी पूर्ण नहीं है, और चरण सिंह के वर्तमान इस्तीफे को अवश्य ही उस इस्तीफे के क्रम में लेना चाहिए जो उन्होंने नवम्बर 1957 में, उन्हीं के वक्तव्य के अनुसार "प्रशासन में मितव्ययिता, ईमानदारी, दक्षता, सार्वजनिक आचरण में ऊंचे मानदंड और जनता को ऊपर उठाने के लिए वास्तविक प्रयासों के मुद्दे पर" दिया था। ऐसा लगता है कि मुद्दे इस वर्तमान इस्तीफे से भी जुड़े हैं, लेकिन इन मुद्दों पर वह विस्तार से वक्तव्य विधान सभा की आगामी बैठक में देना चाहते हैं। फिलहाल तो वह अंतरिम आरोप लगा ही चुके हैं जिन्हें जनता अगर स्वीकार नहीं करती तो उत्तर देने के लिए कुछ जिम्मेदार व्यक्तियों को सामने आना है। कुप्रशासन सबसे बड़ा आरोप है, जिसका ताजा चित्र है रिहन्द बांध की बिजली का आबंटन इस तरीके से होना कि व्यवहारतः जनता के लिए बहुत ही कम बिजली बचे : रिहन्द बांध की बिजली के बंटवारे के बारे में सरकार चुप बैठी नहीं रह सकती, क्योंकि उससे जनता का व्यापक हित जुड़ा है।

चरण सिंह के इस्तीफे को लेकर श्री के० एम० मुन्शी (उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल और भारत सरकार के पूर्व कृषि मंत्री) ने 19 अगस्त 1959 को लखनऊ में आयोजित स्वतन्त्र पार्टी के अधिवेशन में अध्यक्ष की हैसियत से भाषण करते हुए जो टिप्पणियां की थीं, उन्हें पाठकों के लिए यहां उद्धृत करना प्रासंगिक होगा :

चरण सिंह का मामला

श्री चरण सिंह, जिन्हें आप सब अच्छी तरह जानते हैं, देश के एक बहुत ही योग्य और ईमानदार मंत्री के रूप में जिन्हें मैंने जाना है, भूमि सुधार के सबसे बड़े विशेषज्ञों में से एक हैं। सहकारी कृषि की उन्होंने निन्दा की है। स्वभावतः नागपुर प्रस्ताव के विरोध के आरोप उन पर लगे हैं। क्योंकि जो लोग सहकारी कृषि का विरोध करते हैं, वे हमारे जनकल्याण-विशेषज्ञों की

निगाह में 'धोखेबाज', 'अविवेकी' और 'लोकतन्त्र-विरोधी' हैं—हां साम्यवादी सर्वहारावाद के तरीके से।

वे पूछते हैं, विकल्प क्या है, और 'पिलेट' की तरह किसी जवाब का इंतजार नहीं करते। कोई भी व्यक्ति, जो सोचने में असमर्थ नहीं और साम्यवादी नियोजन की तकनीक का आग्रह नहीं रखता, उसे लगेगा कि भारत जैसी मुक्त अर्थव्यवस्था में आर्थिक आजादी सिर्फ कृषि-आधार को मजबूत बनाने पर मिल सकती है, कि विदेशी रोटी से मुक्ति को ही आर्थिक मुक्ति की सर्वोपरि शर्त होना है, कि आहार और कच्चे माल ही किसी औद्योगिक ढांचे को सुनिश्चित आधार उपलब्ध करा सकते हैं। लेकिन हमारे निकट-साम्यवादी जनकल्याण-विशेषज्ञों को नहीं। (देखें, 'पायनियर', लखनऊ, 30 अगस्त 1959)

भारत की जनता ने 1959 से अब तक कांग्रेस पार्टी द्वारा उपलब्ध कराये गए, चार प्रधानमंत्री और आधे दर्जन खाद्य और कृषि मंत्री देख लिए हैं और उसे इसके बारे में अनगिनत लम्बे-चौड़े भाषण और वक्तव्य पिलाए गए हैं, लेकिन सहकारी खेती और खाद्यान्नों के राज्य-व्यापार से देश आज भी उतना ही दूर है, जितनी कभी था।

12

हदबंदी का लागू होना और भूमि का पुर्नवितरण

चरण सिंह ने उस कृषि आय-कर कानून को निरस्त कर दिया जिसे मोटे तौर पर लगान प्राप्त करने वालों या बड़े जोतदारों की आय पर कर लगाने की दृष्टि से 1948 में अधिनियमित किया गया था। जहां तक जमींदारों का सवाल था, सन् 1952 में जमींदारी उन्मूलन हो जाने के बाद वह कानून निष्प्रभावी और बेमानी हो चला था तथा भ्रष्टाचार और उन बड़े किसानों को परेशान किये जाने का स्रोत बना हुआ था, जो वस्तुतः अपनी जमीनों पर खेती करते थे। वे यह भी कर सकते थे कि अपनी सारी भूमि या उसका कुछ हिस्सा परती छोड़ दें और कर देने से बच जाएं। इसका मतलब था राष्ट्रीय उत्पादन में कमी और सरकारी खजाने को नुकसान भी। फिर, कोई सरकारी एजेन्सी या कोई ऐसा तरीका नहीं होने से—जिसके जरिये प्रत्येक बड़े किसान के उत्पादन का मूल्य आंका जा सके—काफी तादाद में ऐसे किसान आय-कर चुकाने से बच सकते थे और बचे भी, जो कर चुकाने योग्य थे।

इसलिए यह सवाल उठा कि ऐसे किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के कानूनी या वास्तविक कब्जे वाले फार्मों के बारे में क्या किया जाए जिन्हें जमींदारों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। सामाजिक न्याय और भारत की आर्थिक परिस्थितियों का तकाजा था कि बहुत ज्यादा खेत अपने पास रखने की इजाजत किसी को भी नहीं मिले, क्योंकि भूमि प्रकृति की देन है और यह मनुष्य के उद्यम और कार्य-कुशलता की उपज नहीं है।

अनेक सार्वजनिक नेताओं और प्रशासकों के रवैये के विपरीत चरण सिंह हमेशा छोटे फार्मों की वकालत करते आ रहे थे। हालांकि कोरे सिद्धान्त के तौर पर प्रति एकड़ उत्पादन की दृष्टि से फार्म का आकार अप्रासंगिक था, अर्थात् यह

कि बड़े फार्म को प्रति एकड़ उतनी ही उपज देनी चाहिए जितनी कि छोटा फार्म देता है (ज्यादा नहीं, क्योंकि कृषि क्षेत्र में कोई आर्थिक मानदण्ड नहीं है); फिर भी उनकी स्पष्ट धारणा थी कि कृषि एक जीवन-प्रक्रिया है, इसलिए सुनिश्चित परिस्थितियों के तहत वास्तविक व्यवहार में फार्म का आकार जैसे-जैसे बढ़ता है, (दूसरे शब्दों में, जैसे-जैसे मानव-श्रम के उपयोग और निगरानी में कमी होने लगती है), प्रति एकड़ उत्पादन में कमी आती है।

अत: यह अपेक्षा की जाती थी कि निरन्तर लोगों के हितैषी होने के कारण वह (चरण सिंह) उत्तर प्रदेश में हदबदी लागू करने और फालतू जमीन का पुनर्वितरण करने में जल्दबाजी दिखाएंगे तथा इस प्रकार राज्य के भूमिहीन या उप-सीमान्त और सीमान्त कृषकों को अतिरिक्त भूमि उपलब्ध होगी। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। इसके विपरीत 1955 में उन्होंने उत्तर प्रदेश की विधान सभा में विपक्ष द्वारा इस तरह के प्रस्तावों पर बल दिये जाने का विरोध किया।

लखनऊ से निकलने वाले कांग्रेसी दैनिक अखबार 'नेशनल हेराल्ड' ने 17 मार्च 1955 के अंक में उनके इस रवैये की आलोचना की। उसके सम्पादकीय का आरम्भिक वाक्य इस प्रकार था :

> राज्य सरकार के भूमि सुधार के रिकार्ड के प्रशंसक होने के नाते हम सोमवार को उत्तर प्रदेश विधान सभा में भूमि के पुनर्वितरण के सिद्धान्त का चरण सिंह द्वारा किये गये विरोध को समझ नहीं पा रहे हैं।

अगले ही दिन राजस्व मंत्री ने एक पत्र के जरिए 'नेशनल हेराल्ड' को इसका जवाब दिया, जो उसके 18 मार्च 1955 के अंक में प्रकाशित हुआ और यहां पुनः उद्धृत है :

लखनऊ
18 मार्च 1955

प्रिय सम्पादक,

कल के अपने सम्पादकीय में आपने भूमि के पुनर्वितरण से सम्बन्धित मेरे विचारों पर गौर किया, इसके लिए आभारी हूं।

भूमि पुनर्वितरण का सवाल कुछ सदस्यों द्वारा उस समय यों ही प्राय: आकस्मिक रूप से उठाया गया था, जब वे एक कटौती प्रस्ताव पर बोल रहे थे। मैंने इसीलिए उसका संक्षिप्त उत्तर दिया था; जितना वह संक्षिप्त था उससे भी संक्षिप्त 'नेशनल हेराल्ड' में प्रकाशित उसकी रिपोर्ट थी, इसलिए अपूर्ण। मुझे अपने विचार व्यक्त करने का अवसर उस समय मिला था जब अगस्त 1954 में श्री गेंदासिंह ने इसी विषय पर एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पेश किया था। मैंने 14 मार्च को पिछले अवसर की भांति ही साफ-साफ कहा था कि मुझे भूमि पुनर्वितरण के सिद्धान्त पर कोई आपत्ति नहीं है। यही नहीं, मैं 1942 से ही, जब मैंने जेल में 'जमींदारी उन्मूलन' पर एक किताब

लिखी थी, यह मानता रहा हूं कि हमारे देश की परिस्थितियों के अनुसार बड़ी जोतों के लिए यहां कोई जगह नहीं है। मैं हमेशा बेझिझक यह विचार फैलाता रहा हूं कि छोटी जोतों की अपेक्षा बड़ी जोतें प्रति एकड़ कम उपज देती हैं तथा रोजगार भी कम लोगों के लिए उपलब्ध कराती हैं और यह कि आर्थिक इकाई, चाहे वह सामूहिक रूप से काम करने वालों की हो या निजी स्वामित्व की और किराये के श्रमिकों द्वारा चलाई जाने वाली हो अथवा कृषि क्षेत्र की या निर्माणकारी उद्योग की हो, जितनी ही बड़ी होगी, उतनी ही कम वहां काम करने वालों की स्वतंत्रता और पहलकदमी होगी। इसलिए हमारे देश में, जहां हमें गरीबी और बेरोजगारी जैसी बुनियादी समस्याओं से जूझना है और जहां हमने जीवन के लोकतांत्रिक मार्ग पर आगे बढ़ना शुरू किया है, बड़ी जोतों को खत्म होना ही है। मेरे विचार से हमारे देश में भूमि पर कृषकों का मालिकाना अधिकार होना चाहिए, जिन्हें वास्तविक उत्पादन के अलावा अन्य सभी आर्थिक गतिविधियों में सहयोग के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। मेरा विचार जिस पर केन्द्रित है, वह है कृषक सहकारियों की ऐसी प्रणाली जिसमें भूमि और श्रम-संसाधनों का एकीकरण नहीं होता; क्योंकि वैसी स्थिति में सहकारी फार्म विकृत होकर मशीनीकृत 'कोलखोज' या रूसी शैली का सामूहिक फार्म बन जाएगा। हमारे अनेक अर्थशास्त्री भले ही आज इससे सहमत हों या न हों, अगर वैसा प्रयास किया गया तो वह विफल होगा ही और कम-से-कम हमारे देश की परिस्थितियों में तो नुकसानदेह ही सिद्ध होगा।

विधान सभा में जब भी भूमि के पुनर्वितरण का सवाल उठाया गया है, मेरा तर्क सिर्फ यही रहा कि जहां तक उत्तर प्रदेश का सम्बन्ध है इसका कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं है। जैसा कि सम्भवत: आप सहमत होंगे, कृषि-प्रधान हमारा देश औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों की अपेक्षा कहीं ज्यादा गरीब है। दुनिया भर में कृषक वर्ग हमेशा आर्थिक रूप से कमजोर रहा है, अर्थात् औद्योगिक, व्यापारिक और समुदाय के अन्य वर्गों की अपेक्षा निर्धनतर। एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री ने बाईस देशों के आंकड़ों के आधार पर पाया कि कुल आय का 20 प्रतिशत श्रमिकों की कुल संख्या के 52 प्रतिशत द्वारा उत्पादित था, तथा कुल आय के 80 प्रतिशत का उत्पादन श्रमिकों की कुल संख्या के 42 प्रतिशत ने किया था। एक साधारण गणना से यह दर्शित होता है कि "खेती की गति-विधि की अपेक्षा अन्य सभी मानवीय गतिविधियां औसतन लगभग 4.35 गुना अधिक उत्पादक होती हैं।" यही कारण है कि क्यों दुनिया की हर वह सरकार, जो अपनी जनता के हितों के प्रति सजग है, पिछले कोई 80 वर्षों से यह प्रयास करती रही है कि लोग खेतों का मोह

छोड़ दूसरे व्यवसायों का आश्रय लें। इसके फलस्वरूप कुल आबादी का ब्रिटेन में सिर्फ 6 प्रतिशत, अमेरिका में 15 प्रतिशत, इटली में 44 प्रतिशत और जापान में 46 प्रतिशत ही आज कृषि क्षेत्र में कार्यरत हैं। दूसरी तरफ इससे सम्बद्ध आंकड़े चीन, तुर्की, रूमानिया, यूगोस्लाविया और भारत के क्रमश: 73, 72, 72, 70 और 70 हैं। सोवियत संघ का यही आंकड़ा 57 है तथा यही मेरी राय में—हालांकि कहने के लिए मैं विवादास्पद आधार को ले रहा हूं—सोवियत संघ के निम्न जीवन-स्तर के लिए जिम्मेवार है, अपपेक्षाकृत उन देशों की तुलना में जिन्हें हम पश्चिमी देश कहते हैं। ये आंकड़े और इनसे निकलने वाले निष्कर्ष 'असंगत' हो सकते हैं, लेकिन ये इस तथ्य को उभारते हैं कि कृषि पर आधारित किसी देश की आबादी का प्रतिशत जितना ही अधिक होगा, उतनी ही अधिक होगी वहां की गरीबी। हम उससे अधिक लोगों को भूमि पर नहीं लगायें या लगने के लिए बाध्य ही करें, जितना कि आवश्यक हो। जैसा कि जनगणना के आंकड़े दिखायेंगे, ब्रिटिश शासनकाल के दौरान हमारी ग्रामीण कलाओं और हस्तशिल्पों का ह्रास और विनाश होने के कारण भारत का निरुद्योगीकरण तेजी से होता रहा; कृषि पर आश्रित लोगों की संख्या 1871 के 53 प्रतिशत से बढ़कर 1951 में 71 प्रतिशत हो गई। अगर हम कुछ कर सकते हैं तो यह प्रवृत्ति हमें रोकनी ही होगी। यही एक विचार है जो मेरे भीतर घर किये हुए है, और यह कोई ऐसा अपने आप में पूरा तर्क नहीं है, जो भूमि के पुनर्वितरण की आवश्यकता को नकार सके।

भारत में ही उत्तर प्रदेश सबसे ऊपर है, या आप इसे सबसे नीचे ही कह लें। हमारे इस राज्य में 1951 की जनगणना के अनुसार 1.50 प्रतिशत ऐसे व्यक्तियों को छोड़कर जो अभी तक कृषि के लगान पर अपना जीवन-यापन करते रहे हैं, आबादी का 73.15 प्रतिशत या तो खेतों में काम करता है या सीधे कृषि पर आश्रित है। इन 73.15 प्रतिशत लोगों में से 67.45 प्रतिशत वे लोग हैं जो वास्तव में जोतदार हैं और अपनी जमीनों पर खेती करने वाले श्रमिक हैं। देश के बाकी हिस्सों में जोतदार 53.25 प्रतिशत और खेतिहर मजदूर तकरीबन 14 प्रतिशत हैं। तात्पर्य यह कि उत्तर प्रदेश में भूमिहीन लोग उन लोंगों के 8.4 प्रतिशत हैं जिनके पास जमीनें हैं, जबकि देश के बाकी हिस्सों में उनका प्रतिशत 26.30 है।

नीचे दी गयी तालिका में कुछ पश्चिमी और पूर्वी जिलों में जोतदारों के प्रतिशत और प्रति खेतिहर परिवारों के कृषि योग्य क्षेत्र दिखाये गये हैं :

तालिका 12.1

जिला	जोतदारों का प्रतिशत	प्रति खेतिहर परिवार जोत-क्षेत्र
बहराईच	84.20	4.61
गोंडा	80.69	4.15
बस्ती	84.02	3.48
गोरखपुर	77.99	3.34
देवरिया	87.46	2.97
आजमगढ़	76.28	3.34
सहारनपुर	37.52	8.84
मुजफ्फरनगर	45.53	7.24
मेरठ	43.26	5.99
बुलन्दशहर	56.95	5.60
बिजनौर	47.75	7.89

इससे ऐसा लगेगा मानो भूमि इन जिलों में पूरी आबादी के बीच बंटी हुई है, अनेक जिलों में प्रति व्यक्ति क्षेत्र का जो अंतर है, वह नगण्य प्रतीत होगा। इस तथ्य पर विवाद नहीं हो सकता कि पूर्वी जिलों की आबादी का जोरदार प्रतिशत खेती में लगा हुआ है और उस क्षेत्र की गरीबी का कारण है। अगर हम इने-गिने जोतदारों से फालतू जमीन नहीं ले लेते और उस पर ज्यादा लोगों को स्थापित नहीं कर देते तो देवरिया या बस्ती खुशहाल नहीं बन पायेंगे। हमने लाखों अधिवासी परिवारों को, जिनके पास दो-दो या कुछ कम-या-ज्यादा एकड़ के छोटे-छोटे भूखंड थे, सीरदार के दर्जे पर प्रोन्नत किया; महज इसलिए कि उनके लिए रोजगार का कोई जरिया नहीं था, उनकी बेदखली से राज्य में सामाजिक और राजनीतिक समस्याएं सिर उठातीं। स्थिति अगर भिन्न होती तो मैंने आर्थिक रूप से अत्यन्त कमजोर उन जोतदारों को स्थाई अधिकार दिए जाने की वकालत न की होती। इस तथ्य से कि इस राज्य में भूमिहीन व्यक्तियों के लगभग 7 लाख परिवार हैं, हमें भूमि पुर्नवितरण के अपेक्षाकृत आसान तरीके के बजाए देहाती उद्योगों की स्थापना के लिए प्रेरित होना चाहिए। जर्मनी में यह अधिकारवंचित किये गये उत्तराधिकारियों की समस्या थी जिसे वहां के उद्योगीकरण का एक कारण माना गया। कामगारों को भूमि से हटाकर दूसरे व्यवसायों में लगाने के कांग्रेसी कार्यक्रम को इस तरह लागू करना अजीब होगा कि जिनके पास

आज जमीन नहीं, उन्हें पहले जमीन से बांध दें और उसके बाद उन्हें दूसरे व्यवसायों की ओर ले जाने का प्रयास करें। मैंने 'बांधना' शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि भूमि में एक अजीब आकर्षण होता है। भूमि की एक पुकार होती है, ठीक वैसे ही जैसे कि समुद्र की पुकार होती है। बुरे वर्ष यद्यपि आते रहते हैं, मगर भूमि जोतदारों का कभी मोहभंग नहीं होने देती, क्योंकि भविष्य में अच्छी पैदावार होने की उम्मीद हमेशा बनी रहती है।

फिर भी, इस सम्बन्ध में वास्तविक विचारणीय प्रश्न यह उठता है कि उत्तर प्रदेश में उस तरह की अधिक या फालतू भूमि का पर्याप्त क्षेत्र उपलब्ध है भी या नहीं। आगे एक तालिका 12.2 पहली पंचवर्षीय योजना के पृष्ठ 199 से उद्धृत की जा रही है—

अब हम जब भूमि के पुनर्वितरण की बात करते हैं तो हर आदमी सोचता है कि अतिरिक्त भूमि सिर्फ उन्हीं जोतों से ले ली जाएगी जिनका रकबा 30 एकड़ से ज्यादा है। बिल्कुल सही संख्या तो 25 से 30 एकड़ तक की जोतों की ज्ञात नहीं है, लेकिन औसत आधार पर कहें तो वह किसी भी तरह 35,000 से कम नहीं हो सकती, फिर तो हमारे पास रह जाती हैं 30 एकड़ से अधिक वाली सिर्फ 80,000 जोतें। इनमें से बुन्देलखण्ड की 20,000 की जोतें हैं जहां कृषि कानून और कराधान से सम्बन्धित सभी मामलों में हमेशा दो एकड़ को एक एकड़ के बराबर समझा जाता रहा है। इसका मतलब है कि उत्तर प्रदेश में 30 एकड़ से ऊपर की सिर्फ 70,000 जोतें थीं। ये आंकड़े फसली साल 1351 के हैं और यह 1362 फसली साल अभी चल रहा है, जो अब समाप्त होने को है। इस अवधि में, जिसे हम 20 से 25 वर्ष तक की अवधि मान लेते हैं, जिसमें एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी आमतौर पर अलग हो जाती है, तकरीबन 50 प्रतिशत जोतों का उत्तराधिकार कानूनों के अन्तर्गत अवश्य ही अब तक उप-विभाजन हो चुका है। इसलिए आज किसी भी हालत में 35,000 से अधिक जोतें मौजूद नहीं हो सकतीं, प्रत्येक 30 एकड़ से अधिक की। ये आंकड़े, फिर भी, आनुमानिक प्रक्रिया से जुटाए गए हैं। वास्तव में 50 से 100 एकड़ के बीच 2,941 जोतों का आंकलन फसली साल 1360 की आय के आधार पर कृषि आय-कर के लिए किया गया था। अगर इन जोतों से 30 एकड़ से अधिक की फालतू जमीन वितरण के लिए ले ली जाती है, तो सिर्फ 7,46,000 एकड़ जमीन उपलब्ध होगी। चूंकि इन जोतों के अधिवासी 30 अक्टूबर 1954 को सीरदार घोषित किए गए थे, इसलिए जो क्षेत्र अन्य प्रकार से पुनर्वितरण के लिए उपलब्ध होता, उसमें से पूर्व अधिवासियों की जोतों का क्षेत्र घट गया है। मैं इस पत्र को और भी आंकड़े देकर बोझिल

तालिका-12.2

(सभी आंकड़े हजार में)

राज्य	लिया गया क्षेत्र	कुल जोत क्षेत्र	बड़ी जोतें	बड़ी जोतों का क्षेत्र	क्षेत्र का प्रतिशत
उत्तर प्रदेश	90%	41,316	114 (25 एकड़ से अधिक)	5,310	12.9
बम्बई	सम्पूर्ण रैंयतबारी क्षेत्र	26,239	216 + 562 = 778	10,856	41.37
मध्य प्रदेश	77%	29,350	359 (20 एकड़ से अधिक)	17.310	59,4
मद्रास	82%	27,591	197 (23 एकड़ से अधिक)	5,905	21.4
पेप्सू	सम्पूर्ण क्षेत्र	—	788 (20 एकड़ से अधिक)	2,842	44.7

नहीं बनाना चाहता, लेकिन इसमें किसी भी तरह से शक की गुंजाइश नहीं कि पुनर्वितरण के लिए उपलब्ध भू-क्षेत्र किसी भी हालत में 7.5 लाख एकड़ से अधिक बड़ा नहीं हो सकता। उत्तर प्रदेश में आज किसानों के कब्जे में 4 करोड़ एकड़ से ज्यादा कृषि योग्य भूमि है।

चूंकि ये बड़े किसान अपनी जोतों के वास्तविक दखलकार और उपभोक्ता हैं, उन्हें प्रति एकड़ उससे कहीं ज्यादा मुआवजे का भुगतान करना होगा जितना कि हमने बिचौलिए जमींदारों को संविधान (चौथा संशोधन) विधेयक के बावजूद उनके स्वामित्व अधिकार का अधिग्रहण करने के लिए किया था। उत्तर प्रदेश सरकार के सामने जो सवाल है, वह है कि मुआवजा कहां से आएगा? राज्य का बजट हमेशा घाटे का चल रहा है और भावी जोतदार भुगतान करने की स्थिति में नहीं होंगे। दूसरा सवाल है: भूमि किन्हें आबंटित की जाए—अनार्थिक (निर्धन) जोतदारों को या भूमिहीनों को? तीसरा सवाल इस बारे में है: क्या इससे कृषि की स्थिति में भौतिक दृष्टि से कोई सुधार होगा—क्या इतना सारा जो समय, धन और श्रम इसमें लगेगा उससे किसी भौतिक उपलब्धि की प्राप्ति होगी? राज्य में पहले से ही 85 लाख कृषक परिवार मौजूद हैं, उनमें आधे ऐसे हैं जिनमें से प्रत्येक के पास 5 एकड़ से कम जमीन है। फिर, ये विचार सैद्धांतिक रूप से असंगत हो सकते हैं, लेकिन अन्य नीतियां रूपायित करते समय प्रशासन द्वारा इन्हें यह सोचकर अनदेखा नहीं किया जा सकता कि इनका कोई महत्त्व ही नहीं।

अंततः, हमने पूरी सावधानी से यह गौर किया है कि वे बड़े जोतदार जो अयोग्य कृषक साबित हुए हैं, उनके हाथ में राष्ट्रीय परिसम्पत्ति यों ही बेकार पड़ी नहीं रहने दी जाए। इस मामले में सरकार हस्तक्षेप करेगी और वह भूमि मामूली लगान पर लम्बी अवधि के लिए असामियों को बन्दोबस्त कर दी जाएगी। दूसरे मामले में, ए. आई. टी. (एग्रीकल्चरल इन्कम टैक्स), जिसे जोतों के आकार के मुताबिक निर्धारित किया गया, जोतदारों पर एक बड़ा बोझ साबित होगा।

मैंने निश्चित रूप से विनोबा भावे के बारे में सुना है। यही नहीं, इस श्रद्धेय सन्त ने मुझे सन्देश भेजा कि सम्भवतः सारे 'अलपकालिक सत्ताधारी' व्यक्तियों में वह अकेले मुझे ही लघु पैमाने बनाम बड़े पैमाने की कृषि, मशीनी बनाम बैलों से चलने वाली खेती और सहकारी या सामूहिक बनाम निजी खेती से सम्बन्धित विचारों के मामले में अपने निकटतम पाते हैं। इन सवालों को लेकर मैं पिछले 15 वर्षों से, उपहास और मिथ्यारोप के अवसर आते रहने के बावजूद, अपने विचारों पर दृढ़ता से जमा रहा हूं—ये विचार, धन्यवाद

आचार्य विनोबा जी को कि, अब देश में व्यापक रूप से स्वीकृति पाने लगे हैं। मैं विनोबा जी से पूरी तरह सहमत हूं, सिवाय इस बात के कि मैं छोटे जोतदारों या 25 एकड़ से कम जोत रखने वालों से यह अपील नहीं करूंगा कि वे अपनी जोतों का 1/6 भाग दान कर दें। आचार्य जी उत्तर प्रदेश की यात्रा शुरू कर चुके हैं और मैं कुछ छिपा नहीं रहा हूं, जब यह कहता हूं कि 'भूदान यज्ञ' के लिए दान की गई भूमि खेती के लिए अनुपयुक्त है।

मैं यहां यह भी जोड़ना चाहूंगा कि मैं पहली पंचवर्षीय योजना को ज्यादा महत्व नहीं देता। वस्तुतः यह योजना जहां तक जाती है, उत्तर प्रदेश उससे आगे निकल गया है या सम्भवतः उससे भी आगे जहां तक किसी दूसरे राज्य को पहुंच पाने में अभी तक सफलता मिल पाई है। आशय यही कि इस विषय में निश्चित रूप से वही आवाज उठाता रहा हूं जो आज सरकार की नीति है और जिन्हें यथार्थ स्थिति का ज्ञान है तथा सार्वजनिक मामलों की सही समझ है, वे कम-से-कम भूमि सुधारों के मामले में मुझे प्रतिक्रियावादी करार नहीं दे पाएंगे।

आपका विश्वस्त
हस्ताक्षर
(चरण सिंह)

सम्पादक
'नेशनल हेराल्ड'
लखनऊ

लखनऊ
9 अप्रैल 1955

महोदय

मैंने आपके पाठकीय कालम में भूमि पुनर्वितरण पर मेरे विचारों की आलोचना करने वाले दो पत्र देखे—एक उत्तर प्रदेश किसान सभा के संयुक्त सचिव श्री पी० के० टण्डन का और दूसरा लखनऊ विश्वविद्यालय में एक अध्यापक श्री वी० बी० सिंह का। मैं नहीं सोचता कि अब कुछ और आने को है।

कृषि सम्बन्धी आंकड़ों से निष्कर्ष निकालने में इन दोनों ही महानुभावों ने गलती की है जैसा कि पहले भी बहुत से लेखक और सार्वजनिक कार्यकर्ता करते रहे हैं; जैसे कि भूमि खातों में दर्ज व्यक्तियों की संख्या और परिवारों या जोतों की संख्या को एक समझ बैठना। श्री टण्डन का यह कहना कि खेतिहर आबादी के 81.2 प्रतिशत के पास कृषि-क्षेत्र का सिर्फ 38.8 प्रतिशत है तथा श्री वी० बी० सिंह का यह निष्कर्ष कि उत्तर प्रदेश के 55.8 प्रतिशत किसानों में से प्रत्येक के पास 2 एकड़ से भी कम भूमि है, दोनों ही को उत्तर

प्रदेश जमींदारी उन्मूलन समिति की रिपोर्ट के भाग-2, पृ० 6 पर दी गई तालिका संख्या-5 से समझा जा सकता है। इस तालिका और इसके बाद की तालिका के अनुसार फसली वर्ष 1352 या 1944-45 ई० के दौरान खतौनी के भाग-1 में दर्ज 1,22,78,000 व्यक्तियों के पास 4, 13,00,000 एकड़ कृषित भूमि (कल्टीवेटेड लैण्ड) थी। यह समझ लेना कि इन 1,22,78,000 व्यक्तियों में से प्रत्येक व्यक्ति एक परिवार का प्रतिनिधित्व करता है, ऐसे गलत निष्कर्ष की ओर ले जाता है कि जिन मुट्ठी भर लोगों का विशाल क्षेत्र पर स्वामित्व है, उनकी तुलना में किसानों के बहुत ही ज्यादा प्रतिशत के पास बहुत ही कम भूमि है। वस्तुतः हमारे राज्य के जिस क्षेत्र से 1,22,78,000 किसानों का यह आंकड़ा सम्बद्ध है, वहां फसली वर्ष 1352 में 70 लाख खेतिहर परिवार से अधिक नहीं रहे होंगे। इसका मतलब है कि ज्यादातर परिवारों के दो या अधिक सदस्य जोतदार के रूप में दर्ज किए गए। चार वर्ष बाद अर्थात् फसली वर्ष 1356 में काश्तकारी जोतों की संख्या सिर्फ 32 प्रतिशत कृषि क्षेत्र में चलाए गए जेड० ए० एफ० अभियान के तहत ही भूमि सुधार कमिश्नर द्वारा जुटाए गए आंकड़ों के अनुसार 160 लाख से ज्यादा हो गई।

अब, ग्राम्य जीवन के अनुभव हमें बताएंगे कि अपेक्षाकृत छोटे यानी पांच एकड़ या उससे कम जोत वाले किसानों ने एक से अधिक नाम राजस्व के खातों में दर्ज कराए और अपनी जमीन एक से अधिक पट्टे या लीज के तहत रखी, जबकि बड़े किसानों के पास आमतौर पर सिर्फ एक जोत रही।

श्री टण्डन ने उत्तर प्रदेश में पिछले कुछ वर्षों के दौरान 'बड़े किसानों' द्वारा 'किसानों के निर्धनतर तबके के विरुद्ध जबर्दस्त बेदखली अभियान' की हवाई बात उठाई है। उन्होंने अपनी धारणा की पुष्टि के तौर पर तथ्य और आंकड़े नहीं दिए हैं, इसलिए उनके बच निकलने की पूरी गुंजाइश है। फिर भी, प्रत्येक वेतन भोगी या अन्य लोकसेवी को विदित ठोस तथ्य यह है कि जमींदारों को ऐसा कोई अभियान छेड़ने की इजाजत नहीं दी गई है; क्योंकि अवैध बेदखली या बेदखली की धमकी-भर की महज सूचना मिलते ही सरकार हमेशा राजस्व विभाग की पूरी मशीनरी को गतिशील बनाती रही है, ताकि गरीब आदमी का न्यायसम्मत अधिकार सुरक्षित रहे।

यह सिद्ध करने के लिए कि इन वर्षों के दौरान निर्धन किसानों का स्वत्वहरण बड़े पैमाने पर जमींदारों द्वारा बेरोक-टोक होता रहा है, श्री टण्डन ने सबूत के तौर पर भूमि रिकार्डों में 29 लाख गलत प्रविष्टियों की मौजूदगी का जिक्र किया है। दरअसल ये गलत प्रविष्टियां 1942 से ही जमा होती रहीं, क्योंकि राजस्व अधिकारियों को इस या उस विशेष अभियान के अन्तर्गत लगातार

व्यस्त रखा गया और उन्हें इतना पर्याप्त समय नहीं मिला कि रिकार्डों को नियमित रखने पर ठीक से ध्यान दे पाते। फिर भी इन गलत प्रविष्टियों में से 80 प्रतिशत विवादरहित हैं और उत्तराधिकार से सम्बन्धित कागजात आदि नहीं प्रस्तुत किए जाने के कारण गलत दर्ज हुए हैं। विवाद केवल 20 प्रतिशत को लेकर हैं और ऐसा नहीं लगता कि हर मामले में धनी जमींदार ही निरपवाद रूप से जमीन हथियाने वाला है; बल्कि ज्यादातर विवाद एक ही स्थिति के खेतिहरों के बीच होने का संकेत मिलता है। फिर, 29 लाख गलत प्रविष्टयों के 20 प्रतिशत के दायरे में कुल कृषित (कृषि योग्य) क्षेत्र का एक प्रतिशत से भी कम क्षेत्र आता है जिन्हें सुधारे जाने पर सही व्यक्ति को उसका हक मिल जाएगा।

जहां तक परती जमीन पर जमींदारों के दखल की बात है, इस बारे में बहुत-सी शिकायत सामने आई हैं। लेकिन जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार कानून के तहत नियम 115 को जोड़ने और द्वितीय संशोधन कानून द्वारा अनुच्छेद 212-ए का अधिनियम हो जाने से इस तरह की जमीनें भूमि प्रबन्धन समिति द्वारा आसानी से बरामद की जा सकती हैं। ऐसी बरामदगी के लिए काफी लम्बी अवधि का प्रावधान किया गया है और समितियां धीरे-धीरे इस ओर अग्रसर हो रही हैं। अपनी दृढ़ इच्छा के प्रमाण के तौर पर मैं यह उल्लेख कर सकता हूं कि सचिवालय में उपलब्ध सूचना के अनुसार 24 जिलों की समितियों ने 30 जून 1954 तक 13,895 एकड़ भूमि भूमिहीन व्यक्तियों में वितरित की है। हमने अभी तक यह जांच नहीं की है कि हथियायी गई कितनी भूमि बरामद की जा चुकी है या कितने मामले इस दृष्टि से अभी स्थगित हैं।

श्री टण्डन का आगे यह आरोप है कि गिरती कीमतों और प्राकृतिक आपदाओं के चलते गरीब तबके द्वारा भूमि बड़े पैमाने पर धनी जमींदारों को हस्तांतरित की गई है। मैं अवश्य माफी चाहूंगा और अगर कहूं कि श्री टण्डन ने यह वक्तव्य देते समय लगभग पूरी तरह कल्पना का सहारा लिया है। जमींदारी उन्मूलन 30 जून 1954 को लागू हो जाने तक 82 प्रतिशत भूमि सीर या खुदकाश्त के रूप में जमींदारों के कब्जे में थी। काश्तकार अपनी भूमि कानून के तहत हस्तांतरित नहीं कर सकते थे तथा जमींदारों से सीर या खुदकाश्त जमीन खरीदने के लिए तैयार नहीं था; क्योंकि स्वत्व खोने के साथ-साथ जमींदारी हस्तांतरित की गई भूमि का स्वामित्वरहित असामी बन गया था और हस्तांतरित की भूमि को वास्तविक कब्जा नहीं मिल पाया था। यही नहीं, असामियों द्वारा जोती जा रही भूमि पर भी जमींदारों के स्वामित्व-अधिकार को हस्तांतरित किए जाने पर भारी बंदिश लगा दी गई

थी, जिसके लिए मैं जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार कानून के अनुच्छेद 23 (1) की ओर श्री टण्डन का ध्यान आर्कषित करना चाहूंगा।

वे सिर्फ भूमिधर हैं जिनका आज कृषित (कृषि योग्य) क्षेत्र के 37.50 प्रतिशत पर अधिकार है और जो अपनी भूमि हस्तांतरित कर सकते हैं। जमींदारी उन्मूलन के बाद एक वर्ष के दौरान उनके द्वारा हस्तांतरित कुल क्षेत्र, अद्यतन यानी 1 अक्टूबर 1952 से 30 सितम्बर 1953 तक के उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार, सिर्फ 93,859 तक इस प्रकार पहुंचता है—

तालिका-12.3

डिवीजन	अदालत के आदेश से बिक्री		निजी तौर पर हस्तांतरित	
	मामले	क्षेत्र (एकड़ में)	मामले	क्षेत्र (एकड़ में)
1. मेरठ	10	55	6,192	23,908
2. आगरा	102	668	3,585	30,071
3. रुहेलखण्ड	106	5,416	2,216	9,166
4. इलाहाबाद	191	1,582	2,106	9,579
5. झांसी	—	—	509	2,739
6. बनारस	2	3	763	3,683
7. गोरखपुर	8	103	915	2,829
8 लखनऊ	5	39	112	2,354
9. फैजाबाद	15	24	214	1,567
	439	7,891	16,612	85,968

यह 93,859 एकड़ का क्षेत्र भी जमींदारों के हाथ में नहीं जा सकता था, क्योंकि मौजदा कानून के तहत कोई इतनी जमीन अपने या अपनी पत्नी या अपने नाबालिग बच्चों के नाम से नहीं खरीद सकता कि उसकी सारी जोत 30 एकड़ से बड़ी हो जाए। किसी को भी यह देखकर संतोष होगा कि मध्यवर्ती और पूर्वी जिलों में, जहां के किसान अपेक्षाकृत गरीब हैं, सचमुच वहुत ही कम हस्तांतरण हुआ है। श्री टण्डन के दावे का इससे वडा प्रतिवाद नहीं हो सकता।

जहां तक जमींदारों के मित्रों और सम्बन्धियों के बीच फर्जी बंटवारे की बात है, श्री टण्डन यह भूल जाते हैं कि मैंने 50 एकड़ से ऊपर की ऐसी बड़ी जोतों के आंकड़े उद्धृत किए थे जिन्हें कृषि आय-कर के लिए

छांटा गया था, और कृषि आय-कर कानून अपने अनुच्छेद 4-ए, 8, 9 और 10 के जरिए यह सुनिश्चित करता है कि बड़े जोतदार को फर्जी लिखा-पढ़ी द्वारा अपनी जोत बंटी हुई दिखाकर बच निकलने की छूट नहीं दी जाएगी।

अन्त में, उन 1,14,655 व्यक्तियों में, जिनमें से प्रत्येक के पास 25 एकड़ से ज्यादा की जोत थी और जिनके बारे में शायद श्री टण्डन की कल्पना है कि वे सबके-सब धनी जमींदार थे, केवल 32,555 ही जमींदार थे और बाकी 82,100 काश्तकार थे। अस्तु, धनी जमींदार द्वारा जबर्दस्त बेदखली अभियान छेड़ा जाना और सार्वजनिक भूमि पर कब्जा तथा बड़े पैमाने पर उनके हित में हस्तांतरण किया जाना—वे तत्त्व जिन्होंने श्री टण्डन के विचार से जमीन हड़पने वालों को इतनी ज्यादा मदद पहुंचाई कि उत्तराधिकार कानून द्वारा किया गया उनकी जोतों का विभाजन भी रद्द हो गया—अगर वस्तुतः सच भी हो तो वह 1,14,655 में से केवल 32,555 व्यक्तियों के लिए होगा।

अब, वह भूमि जो वितरण के लिए उपलब्ध होगी : जमींदारी उन्मूलन समिति की रिपोर्ट, भाग-II में दी गई विविध तालिकाओं और वक्तव्यों को देखने पर किसी को भी पता चल जाएगा कि 1,14,655 में से 32,555 बड़े जोतदारों के पास जो कि जमींदार थे, 16,69,474 एकड़ क्षेत्र था, या मोटे तौर पर 51 एकड़ प्रत्येक के पास; और 82,100 के पास जो कि काश्तकार थे, 36,41.098 एकड़ या मोटे तौर पर 44.5 एकड़ प्रत्येक के पास थी। स्वामित्व वाली 32,555 जोतों में से, रिपोर्ट में जिन्हें अलग-अलग दर्शाया गया है, 22 प्रतिशत जोतें 25-30 एकड़ वाले समूह में आती हैं, इनमें से 19 प्रतिशत जोतों वाला 12 प्रतिशत क्षेत्र बुन्देलखण्ड में पड़ता है। चूंकि स्वामित्व वाली जोतों की अपेक्षा काश्तकारी जोतें क्षेत्रफल में 12.75 कम हैं, अतः अन्दाजा लगा सकते हैं कि बुन्देलखण्ड में स्थित स्वामित्व और गैर-स्वामित्व वाली 25-50 एकड़ वाली निम्नतर समूह की जोतों का प्रतिशत अधिक से अधिक 21 बैठेगा, यानी अनुमानतः 24,078 जोतें।

बुन्देलखण्ड का 2 एकड़ का क्षेत्र राज्य के शेष भागों में एक एकड़ के बराबर माना जाता है, इसलिए हम मान लेते हैं कि पूरे राज्य में 25 मानक एकड़ से अधिक वाली सिर्फ 90,600 जोतें हैं। फिर, इनमें से भी बुन्देलखण्ड की 50 एकड़ से अधिक वाली जोतों का सही रकबा निकालने के लिए आधा करना पड़ेगा जो कि पुनर्वितरण के लिए उपलब्ध हो सकती हैं। रिपोर्ट का वक्तव्य-12 देखने पर पता चलेगा कि बुन्देलखण्ड में स्वामित्व वाले समूह

की ऐसी बड़ी जोतें कुल 7.5 प्रतिशत हैं। काश्तकारी जोतें क्षेत्रफल में छोटी होने और राज्य की सभी बड़ी जोतों का 71 प्रतिशत होने के कारण हम मजे में बुन्देलखण्ड की 50 एकड़ से अधिक वाली जोतों की संख्या को कुल का 6.25 प्रतिशत कह सकते हैं। कुल 90,800 जोतें जो हमारे पास रह जाती हैं, उनसे 1,14,655 का 3.125 प्रतिशत या 3,583 जोतें घटा देने पर हम कुल 43, 52,000 मानक एकड़ क्षेत्र की 87,000 जोतों की संख्या तक पहुंचते हैं जो हमें बुन्देलखण्ड की 25-50 एकड़ वाले समूह की 24,000 जोतों के चलते 6,64,000 और बड़े समूह की 3,600 जोतों के चलते 2,95,000 एकड़ घटा देने पर हमें प्राप्त होती है। इस क्षेत्र का भी लगभग छठा हिस्सा शिकमी काश्तकारों और गैर-दखलकार काश्तकारों को दे दिया गया, जो स्थायी अधिकार प्राप्त कर चुके हैं। इसलिए इन बड़े जोतदारों के हल की नोक तले जो क्षेत्र वास्तव में रह गया है, वह सिर्फ 36,27,000 एकड़ तक पहुंचता है। प्रत्येक के लिए 25 एकड़ आरक्षित रखने पर हमारे पास मोटे तौर पर 14,52,000 फालतू जमीन रह जाती है। यह स्थिति फसली साल 1352 में थी। इसलिए फसली वर्ष की इन 87,000 जोतों में आधी से अधिक का अवश्य ही उत्तराधिकार कानून के चलते अब तक उप-विभाजन हो चुका होगा। मेरा यह कथन गलत नहीं होगा अगर मैं कहूं कि प्रत्येक बड़े जोतदार के लिए 30 एकड़ सुरक्षित रखने पर वितरण के लिए उपलब्ध भूमि आज 7.5 लाख एकड़ होगी।

आगे जनगणना रिपोर्ट-1951 की एक तालिका 12.4 दी जा रही है जिसमें उत्तर प्रदेश की कृषि.आबादी की आनुपातिक भिन्नताएं और विविध कृषक वर्ग दर्शित हैं। सन् 1931 और 1941 के आंकड़े नहीं दिए गए हैं, क्योंकि सिर्फ काम करने वालों के व्यवसाय दर्ज किए गए थे, उनके आश्रितों के नहीं :

तालिका-12.4

जीविका के मुख्य साधन	1901	1911	1921	1951
कृषक	48.53	59.80	64.18	67.41
खेतिहर मजदूर	9.03	9.48	8.68	5.71
लगान पाने वाले (जमींदार)	7.11	1.80	1.76	1.06
कुल कृषक आबादी	64.67	71.08	74.62	74.18

इस तालिका के साथ-साथ इस तथ्य से, कि स्वामित्व प्राप्त और काश्तकार दोनों ही तरह के बड़े जोतदार जो 1945 में जरूर 20,000 के आसपास रहे होंगे, वे कृषि आय-कर के आंकड़ों के अनुसार आठ वर्ष बाद घटकर लगभग 9,000 रह गए, यह सिद्ध होता है कि कम-से-कम उत्तर प्रदेश में भूमि कुछ ही लोगों से और भी कुछ लोगों के हाथों में सिमटती नहीं गई और न ही किसानों को उनकी जोतों से वंचित किया गया अथवा मार्क्सीय अर्थशास्त्र के 'वृत्तिभोगी दासों' की जमात खड़ी होने दी गई, जिसकी कल्पना में अनेक भद्रजन सुख का अनुभव किया करते हैं।

मैंने अपने पत्र में सुझाव दिया था कि छोटी जोतें बड़ी जोतों की अपेक्षा प्रति एकड़ अधिक उपज देती हैं। मुझे पता है कि मेरा यह विचार आर्थिक और राजनीतिक वैचारिकता के अनुगामियों के लिए अभिशाप है, श्री टण्डन और अखबार में प्रकाशित वकतव्य के आधार पर मैंने लक्ष्य किया है कि श्री वी० बी० सिंह के साथ भी यही बात है। श्री सिंह कहते हैं कि दोनों प्रकार के फार्मों के उत्पादन की तुलना करते समय मैंने शायद पाउण्ड (मुद्रा) और पाउण्ड (वजन) के भेद को समझने में भूल की है। श्री वी० बी० सिंह विभिन्न देशों के कृषि उत्पादन से सम्बन्धित कोई भी विश्वस्त अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशन देखें और वे पाएंगे कि जापान, चीन, जर्मनी, डेनमार्क, बेल्जियम और अन्य ऐसे देश जहां छोटी जोतों का प्रचलन है, केवल कपास और मूंगफली जैसी नकदी फसलें ही नहीं बल्कि गेहूं, जौ, मकई आदि खाद्यान्न भी अमेरिका, सोवियत संघ और आस्ट्रेलिया जैसे देशों की अपेक्षा ज्यादा उत्पादित करते हैं जहां बड़ी-बड़ी जोतों—चाहे जैसे भी संचालित—का प्रचलन है। फिर जैसा कि वी० बी० सिंह स्वीकार करते हैं, छोटे किसान भी अगर न केवल प्रति एकड़ खाद्यान्न उपजाकर बल्कि मुर्गी पालन और व्यावसायिक फसलें उगाकर अपनी आमदनी बढ़ा सकने में समर्थ हों तो कोई कारण नहीं कि बड़े फार्मों की जगह छोटे फार्मों को प्राथमिकता नहीं दी जाए, खास तौर से जबकि हमें इतनी बड़ी आबादी का पेट भरना है और जमीन इतनी कम है।

बड़े पैमाने पर कृषि फार्मों की वकालत करने वाले यह यकीन कर रहे प्रतीत होते हैं कि जैसे निर्माणकारी उद्योग में सम्पत्ति का एकत्रीकरण लगाई गई पूंजी के प्रति इकाई के उत्पादन को बढ़ाने में सहायक होता है, वैसा ही कृषि क्षेत्र में भी होगा। लेकिन कृषि विज्ञान की प्रगति ने यह दिखा दिया है कि औद्योगिक उत्पादन के नियम कृषि उत्पादन के लिए लाभकारी नहीं होते। कारण स्पष्ट है। एक अर्थशास्त्री ने बताया है कि "वस्तु निर्माण की प्रक्रिया एक यांत्रिक प्रक्रिया है जिसमें खास ढांचे की वस्तुएं उसी मशीन से

लगातार उत्पादित होती रहती हैं। दूसरी तरफ कृषि प्रक्रिया एक जैविक प्रक्रिया है और इसके उत्पादन मानव द्वारा चालित यांत्रिकी (मशीनों) के परिणाम नहीं बल्कि मानव में ही निहित विकासशीलता के गुणों की देन हैं।" अतएव, महज मशीनों के इस्तेमाल और सम्पत्ति के एकत्रीकरण से कृषि के उत्पादन में वृद्धि नहीं होती। यह भरपूर पानी, खाद—बेहतर जैव खाद—का प्रयोग, आधुनिक रसायनों का इस्तेमाल, उन्नत किस्म के बीज, कीटों और बीमारियों पर नियंत्रण के उपाय तथा किसान की क्षमता हैं, जो प्रति एकड़ वास्तविक उत्पादन को प्रभावित करते हैं; और यह नहीं कि जमीन कैसे जोती गई, बड़े-बड़े चकों में ट्रैक्टर से या छोटे-छोटे खेतों में मवेशियों के श्रम से। यदि हम मान भी लें कि बड़े फार्म तकनीकी तरीकों का बेहतर इस्तेमाल कर लेते हैं या पानी, खाद, उन्नत बीज और कीटनाशी जैसी कृषि सम्बन्धी आवश्यकताएं आसानी से पूरी कर सकते हैं, तो छोटे किसान भी सहकारी प्रयास से वह सब उपलब्ध कर सकते हैं, जहां वे विशाल उपक्रमों की सारी तकनीकी सुविधाओं का लाभ उठा सकेंगे तथा फिर भी निजी भू-सम्पत्ति अपने पास रखने की आजादी और साथ-ही-साथ काम करने की आजादी उन्हें सुलभ रहेगी। ये इसी प्रकार की कृषक सहकारियां हैं, सहकारी कृषि नहीं, जिनके बारे में मैंने अपने पत्र में कहा था कि वे हमारी समस्याएं अच्छी तरह सुलझा सकेंगी। यह पद्धति व्यक्तिगत देखभाल और ध्यान को सुनिश्चित करेगी जिनकी मानव-जीवन और पशु-जीवन की तरह ही पौधों के जीवन के लिए भी सख्त जरूरत रहती है तथा जिन्हें किसान परिवार पारिश्रमिक लिए बिना सुलभ कर सकता है।

श्री टण्डन इससे इनकार नहीं कर सकते कि उनके वास्तविक मतानुसार किसान एक बदतर किस्म का पूंजीपति है। क्योंकि, लेनिन ने घोषणा की थी कि "छोटे उत्पादन से पूंजीवाद और बुर्जुआ मध्यवर्ग उत्पन्न होता है, लगातार, दिन-प्रतिदिन, घण्टा-प्रतिघण्टा, सहज स्वाभाविक रूप से और बड़े पैमाने पर।" तो फिर कोई पूछ सकता है कि श्री टण्डन क्यों उस मार्ग की वकालत करते हैं जो पूंजीवादी बुर्जुआ की तादाद को बढ़ाता है? फिर, उनका अनुसरण करते हुए यह भी नहीं माना जा सकता कि छोटे पैमाने की खेती से अधिक समृद्धि आती है और प्रति एकड़ ज्यादा रोजगार उपलब्ध होता है। तो फिर कोई पूछ सकता है कि क्यों वह बड़े फार्मों को छोटे-छोटे टुकड़ों में बांटने की वकालत करते हैं? चौकस पाठक यह लक्ष्य करेंगे कि श्री टण्डन अपनी मौजूद बात से पीछे हटने का मार्ग सुरक्षित रख छोड़ने की चतुराई भी दिखाते हैं जब मेरे तर्क के साथ 'इस समय' जोड़ते हैं और कहते हैं, "श्री चरण सिंह खुद स्वीकार करते हैं, कि बड़ी जोतों में खाद्यान्न का

उत्पादन इस समय छोटे फार्मों की अपेक्षा निम्नतर है।"

इससे श्री टण्डन की मानसिकता का आभास-भर मिलता है, लेकिन श्री वी० बी० सिंह ज्यादा खुले हुए हैं। वह प्रत्येक भूमिहीन को दो-दो एकड़ बांट देंगे, क्योंकि जैसा कि उनका कथन है, इस तरह के पुर्नवितरण से सहकारी खेती के विकास में मदद मिलेगी जहां आवश्यकतानुसार पहले तो श्रम और मवेशी आदि मूल संसाधनों को एक जगह इकट्ठा किया जाएगा और फिर अंततः भूमि को भी, जिसका पुर्नवितरण वह आज कर देना चाहते हैं। सच तो यह है कि उनकी ललक रूसी ढांचे के सामूहिक फार्मों के लिए है और पुर्नवितरण की बात वे किसानों को खुश करने के लिए कर रहे हैं। एक बार वे किसी तरह उनकी सद्भावना प्राप्त कर लेते हैं और उन्हीं का सहारा ले सत्ता हथियाने में कामयाब हो जाते हैं तो फिर नियोजित ढंग से वे उन्हें यांत्रिकी (मशीनी) 'कोलखोजी' में धकेलेंगे जहां वे मजदूर—'खेतिहर मजदूर'—होकर रह जाएंगे। यह पहली बार नहीं है जैसा कि पाठकों ने 8 अप्रैल 1955 के 'नेशनल हेराल्ड' में अवश्य देखा होगा, रूस के देहाती इलाकों में 30,000 नगर-प्रशिक्षित विशेषज्ञों का एक 'शॉक ब्रिगेड' भेजा जा रहा है जिन्हें 'कृषि में मार्गदर्शन सुनिश्चित करने के लिए' सामूहिक फार्मों के अध्यक्ष के रूप में 'अनुशंसित' किया गया है। उन्होंने 1930 में भी 'कोलखोजी' गठित करने और उनके प्रथम अध्यक्ष बनने के लिए 25,000 औद्योगिक कामगारों की भर्ती की थी।

कम्युनिस्टों ने यूरोप में दशकों के कड़ुवे अनुभव के बाद अपना सबक सीख लिया है जहां राज्य द्वारा संचालित कृषि के मार्क्सवादी सिद्धान्तों या इन्हीं के अनुरूप किसी भी शैली की बड़े पैमाने पर की जाने वाली कृषि को लागू किया गया तो वे समाजवादी खेमे के किसानों का दिल जीत नहीं पाए। तभी उन्होंने किसानों के साथ नरमी से पेश आने का निश्चय किया।

श्री बी० वी० सिंह आंकड़ों से बहुत आतंकित हैं, एक अर्थशास्त्री के लिए यह एक बड़े अचरज की बात है। आंकड़े तभी प्रवंचना लगते हैं जब लेखक, अन्य बातों में चाहे वह जितना भी सक्षम हो, पूर्वकल्पित नारों के औचित्य को सिद्ध करने के लिए उनका उपयोग करता है। अगर हम आंकड़ों पर निर्भर नहीं करते तो सारी योजना का आधार ही गायब होता। वस्तुतः जीवन के किसी भी क्षेत्र या प्रशासकीय विभाग के किसी बहुसदस्यीय निकाय के लिए कोई भी योजना तैयार करना सम्भव नहीं होता।

सिर्फ दो उदाहरण हैं कि आंकड़ों की कैसे गलत व्याख्या होती है और वे भी श्री वी० बी० सिंह के ही पत्र से : मेरे द्वारा पहली पंचवर्षीय योजना के पृष्ठ 199 से लिये वक्तव्य के आखिरी कॉलम में 'क्षेत्र का प्रतिशत' शीर्षक

स्पटष्त: 'सम्बद्ध राज्य के सारे कृषित क्षेत्र में बड़ी जोतों के क्षेत्रफल का प्रतिशत' का अर्थ देता है। लेकिन श्री वी० बी० सिंह ने 'क्षेत्र का प्रतिशत' के साथ कोष्ठक के अन्तर्गत 'पुनर्वितरण के लिए उपलब्ध' जोड़कर बिल्कुल भिन्न और भ्रामक अर्थ दे दिया है। फिर, बक्तव्य में दिये गये बड़ी जोतों के आधार को इनके द्वारा राज्य के लिए निश्चित की गई हदबंदी समझ लिया गया है, ईश्वर ही जानता है कि कैसे और क्यों ? इस तरह की व्याख्या और कहीं नहीं बल्कि गलत निष्कर्ष तक ले जाती है।

मैंने कहीं कहा है, जैसा कि श्री वी० बी० सिंह का आरोप है कि भूमि के पुनर्वितरण से अनार्थिक लोगों की संख्या बढ़ेगी। क्योंकि मेरा विश्वास है कि अगर पुनर्वितरण होना ही है तो या तो भूमि उन्हें दी जाएगी जिनके पास अनार्थिक जोतें हैं, अथवा अगर भूमिहीनों को सोंपी जाए तो वह आर्थिक आकार की जोतों के रूप में हो।

विवाद को और आगे घसीटने की मेरी इच्छा नहीं है। भूमि पुनर्वितरण का सिद्धान्त राजनीतिक संगठन द्वारा अजमेर में पिछली जुलाई में स्वीकार कर लिया गया है, जिसमें उत्तर प्रदेश सरकार के सदस्यों को भी शामिल होने का सुयोग मिला था। हमारा सिर्फ यही अभिमत है कि उत्तर प्रदेश में हमारी जो परिस्थितियां हैं, उनमें यह समस्या कुछ ही या बिल्कुल महत्त्व नहीं रखती है। बल्कि, हमें तो सब कुछ छोड़ अपने देहातों के लघु उद्योगों को बढ़ावा देना है और राज्य के सभी हितैषियों का ध्यान इस तरफ खींचना है, तथा सभी सरकारी सेवारत कर्मचारियों की ऊर्जा को इसी में सुनियोजित रूप से लगाना है। भूमि और इसकी समस्याएं हो चुकीं, और अभी भी उनके लिए बहुत कुछ हो रहा है।

सम्पादक
'नेशनल हेराल्ड'
लखनऊ

आपका विश्वस्त
हस्ताक्षर
(चरण सिंह)

बड़ी जोतों पर हदबंदी लागू किये जाने और फालतू जमीन का पुनर्वितरण होने के बाद या साथ-ही-साथ जमींदारों को अपने काश्तकारों से भूमि के अधिग्रहण का अधिकार प्रदान किये जाने की नीति को लेकर कांग्रेसी नेता वर्ग भ्रमपूर्ण स्थिति में हैं। भूमि के स्वामित्व में ज्वलंत विषमता खत्म हो सकती है, इस दृष्टि से एक वैकल्पिक तरीका सीधे राज्य द्वारा पुनर्वितरण का उपलब्ध था, खास तौर से ऐसे क्षेत्रों या राज्यों में जहां बड़े क्षेत्र या फालतू भूमि उपलब्ध नहीं थी। करना तो बस यही था कि स्वामी की वास्तविक निजी खेती वाले क्षेत्र पर भारी क्रमिक कर थोप दिया जाता (जिससे अक्षम या बहुत बड़े फार्मों को बेच देना पड़ता)

और भावी अधिग्रहणों पर निचले स्तर की हदबंदी निश्चित कर दी जाती, जैसे कि पत्नी और अगर हों तो नाबालिग बच्चे समेत प्रति वयस्क व्यक्ति के लिए 12.5 एकड़।

इसके फलस्वरूप जितनी भूमि पर कोई व्यक्ति ठीक से खेती कर सकता है उससे फालतू भूमि अपने आप वितरित हो गई होती, अर्थात् राज्य के खुलकर सामने आये बिना ही। राज्य को कोई मुआवजा भुगतान नहीं करना पड़ता (बल्कि उसे कर के रूप में अच्छी खासी रकम मिल जाती), न ही उसे बड़े फार्मों की कटौती और फालतू भूमि के वितरण के लिए अपेक्षित प्रशासकीय दायित्व भार वहन करना पड़ता। बड़े किसानों के मन में व्याप्त इस कटुता की भावना से बचा जा सकता था कि शहरी सम्पत्ति[1] के स्वामियों के मुकाबले उनके साथ भेदभाव बरता जा रहा है और भावी बन्दोबस्तियों के लिए वित्तीय व्यवस्था का बोझ भी राज्य को नहीं उठाना पड़ता। न तो उन मध्यवर्गीय किसानों के मन में अनिश्चयता की कोई भावना घर कर पाती जो आज हदबंदी से प्रभावित नहीं है (क्योंकि हदबदी चाहे जो भी हम तय करें, वह मनमाने तौर पर लगाई गई प्रतीत होगी और इसकी कोई गारण्टी नहीं है—ये भू-स्वामी या खेतिहर आपस में तर्क करेंगे—कि इसे कल निचली हद तक नहीं पहुंचा दिया जाएगा), अथवा न ही इन भूमिहीन श्रमिकों और उप-जोतदारों में असंतोष की भावना होती जो पुर्नवितरण की योजना से अलग किये जा सकते हैं या आवश्यक रूप से अलग कर दिये जायेंगे। अन्त में यह भी कि पुर्नवितरण को 'वर्गीय विवाद फैलाए' बिना प्रभावी बनाया जा सकता था जैसा कि उत्तर प्रदेश की राज्य कम्युनिस्ट पार्टी ने 20-21 अप्रैल, 1959 को लखनऊ की बैठक में हर्षित होकर कहा था और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जनवरी 1959 को पारित नागपुर प्रस्ताव में भी कहा गया था।

यहां यह उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा कि बड़े फार्मों या बड़ी परि-सम्पत्तियों को छोटा करने यानी भारी कर लगाने की सिफारिश सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री गुन्नार मिर्डल ने आर्थिक विषमता को कम करने के अन्य किसी भी उपाय की अपेक्षा बेहतर उपाय के रूप में की है।

किसी राज्य में वितरण के लिए कितनी भूमि वास्तव में उपलब्ध होगी, यह उस

1. गैर-कृषि क्षेत्र में उस समय एक ही भुगतान योग्य वार्षिक कर 3,600 रुपये या 4,200 रुपये से ऊपर की आय पर था। दूसरी तरफ देहाती या कृषि क्षेत्र में इन आंकड़ों से अधिक आय जो अर्जित करता, उसे न रहने या कार्य करने दिया गया।

भूमि के क्षेत्रफल पर जहां मजदूर खेती करते हैं या खेतिहर परिवार की औसत जोत तथा अभी भी मौजूद बड़ी जोतों की संख्या पर निर्भर है। सम्भावित फालतू क्षेत्र, औसत जोतों का आकार तथा भूमि की मांग की व्यापकता भी एक राज्य से दूसरे राज्य में बहुत ही भिन्न हैं। तालिका 12.5 तीनों के बारे में जानकारी देगी।

स्पष्ट है कि शुरू के सिर्फ सात राज्य ही सरकार की एजेन्सी द्वारा भूमि के अपेक्षित और औचित्यपूर्ण वितरण के लिए काफी भूखण्ड उपलब्ध करने की स्थिति में थे। इन उपरोक्त राज्यों के बाद उत्तर प्रदेश से शुरू करने पर प्रत्येक 10 और 30 एकड़ से अधिक वाले क्षेत्र में भारी गिरावट आई है।

अतः चरण सिंह ने कृषि आय-कर के स्थान पर बड़ी जोतबदी-कर को रखा जो जुलाई 1957 में प्रभावी हुआ। 30 एकड़ तक की जोतों को इस कर से मुक्त घोषित किया गया था। यह कानून दोनों तरह के किसानों के लिए वरदान साबित हुआ, क्योंकि इसे इस तरह तैयार किया गया था कि इसमें कहीं कोई खामी नहीं थी जिससे भ्रष्टाचार पनपता या किसानों को परेशान किया जाता। सरकार को भी सुविधा थी कि कोई बदनीयत किसान इस कानून के तहत आकलित आय को छिपा नहीं सकता था। इस कानून ने चूंकि क्रमिक कर को लागू किया था जिसकी दर जोत के आकार के साथ बढ़ती भी जाती थी, इसलिए यह सामाजिक न्याय का एक साधन बना। यह बड़े जोतदार के भी हित में था कि वह अपनी जोत का एक हिस्सा बेचकर उसे 30 एकड़ कर ले और इस प्रकार ज्यादा कुशलता से उसका उपयोग और उपभोग कर सके। फलस्वरूप राजस्व रिकार्डों के अनुसार बड़ी जोतबंदी-कर के सिर्फ दो ही वर्ष लागू रहने के बाद उत्तर प्रदेश के 1,00,000 मैदानी और 12,000 पर्वतीय गांवों वाले विस्तृत ग्रामीण क्षेत्र में 30 एकड़ से अधिक रकबे की जोतों की संख्या घटकर 8,000 रह गई।

यह कानून दूसरी तरह से भी दीर्घकालिक लोकहित में सहायक था अर्थात् बगीचों को कराधान से छूट दी गई थी, ताकि किसान ज्यादा से ज्यादा भूमि पर पेड़ लगाने के लिए उत्साहित हों। फिर भी 1960 में, जबकि चरण सिंह मंत्रिमंडल से बाहर थे, इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा इस कानून को अवैध घोषित कर दिया गया। फिर तो किसी ने भी उच्चतम न्यायालय में अपील करने की या आवश्यकतानुसार इस कानून में संशोधन किए जाने की चिन्ता नहीं की और जब 1960 में उनकी मंत्रिमंडल में वापसी हुई, तब उनकी इच्छा के बावजूद राजस्व विभाग उन्हें नहीं सौंपा गया।

चरण सिंह द्वारा 1959 में मंत्रिमंडल से इस्तीफा दिए जाने के बाद कांग्रेसी

तालिका-12.5

1961 की जनगणना के दौरान किए गए परिवारों के 20 प्रतिशत नमूना सर्वेक्षण पर नई जोतों और परिवारों के आंकड़े

क्र० सं० राज्य	कृषक परिवारों की संख्या	10 एकड़ या उससे अधिक वाले परिवारों की संख्या	30 एकड़ या उससे अधिक वाले परिवार (सैकड़ों में)	कॉलम 4/3 के प्रतिशत	कॉलम 5/3 के प्रतिशत	1 अप्रैल 1960 को कृषकों के कृषि-श्रमिकों का प्रतिशत
1. पंजाब	3,33,998	1,67,234	294	50.07	8.8	24
2. राजस्थान	5,24,937	2,38,994	240	45.53	14.1	7
3. महाराष्ट्र	7,48,470	3,09,830	768	41.40	1.40	51
4. गुजरात	3,77,897	1,53,352	362	40.58	9.6	30
5. मध्य प्रदेश	8,54,956	3,01,187	487	35.23	5.7	29
6. मैसूर (कर्नाटक)	5,00,916	1,58,348	344	31.61	6.9	28

7. आन्ध्र प्रदेश	7,79,235	1,78,190	352	22.87	4.5	76
8. उत्तर प्रदेश	18,96,144	2,28,303	205	12.57	1.08	16
9. उड़ीसा	4,83,505	59,460	60	12.30	1.2	24
10. बिहार	11,57,345	1,30,155	169	11.24	1.5	41
11. मद्रास	6,50,805	64,646	74	9.93	1.1	47
12. असम	3,00,124	27,504	15	9.16	0.5	7
13. पश्चिम बंगाल	6,11,539	51,348	19	8.40	0.3	41
14. जम्मू व कश्मीर	98,187	5,345	2	5.44	0.17	3
15. केरल	2,02,218	4,302	4	2.13	0.19	90

टिप्पणी—पंजाब के आंकड़े उस अवधि के हैं जब हरियाणा उसके अन्तर्गत था। प्रति 100 कृषकों पर कृषि श्रमिकों की संख्या 1961 की जनगणना से ली गई है।

सरकार द्वारा हदबंदी लागू करने का एक कानून अधिनियमित किया गया, जो 3 जनवरी 1960 को लागू हुआ। इस कानून को बड़ी जोतबंदी कानून की जगह लेनी थी, लेकिन इसमें ऐसे कई ढांचागत दोष थे जो भूमिहीनों को फालतू जमीन के वितरण के इसके लक्ष्य को विफल करने में भू-स्वामी वर्ग की सहायता करते थे।

हदबंदी की सीमा कहीं ज्यादा बड़ी थी। भूतपूर्व जमींदारों ने बड़ी-बड़ी जोतें अपने पास रख लीं, जिनके आकार 16 से 51.2 हेक्टेयर तक थे। कानून के अन्तर्गत दी गई छूटों का पूरा लाभ उठाते हुए उन्होंने अपनी जोतें बड़ी कर लीं। बगीचे, औद्योगिक इस्तेमाल में आने वाली भूमि, गड्ढे-नाले, खलिहान-भूमि, आवासीय क्षेत्रों, डेयरी और मुर्गीपालन केन्द्र तथा सहकारी ट्रस्टों, वक्फों और धर्मार्थ संस्थाओं एवं रजिस्टर्ड सोसायटियों द्वारा संचालित शिक्षा संस्थाओं को हदबंदी कानून के दायरे से बाहर रखा गया था। इसके फलस्वरूप भू-स्वामियों द्वारा हदबंदी कानून का ऐसी सफलता से उल्लंघन किया गया कि सिर्फ 84,08,000 हेक्टेयर भूमि फालतू घोषित की जा सकी थी। सरकार इस क्षेत्र में से केवल 72, 400 हेक्टेयर को अपने कब्जे में ले पाई। ग्राम सभा की ज्यादातर भूमि पर राजस्व विभाग के अधिकारियों और भूमि प्रबन्धन समितियों की मदद से भू-स्वामी ठाकुरों और ब्राह्मणों ने कब्जा कर लिया।

"पहला हदबंदी कानून पास होने के दस वर्ष बाद जनवरी 1970 में भूमिहीनों को फालतू भूमि आवंटित करने का पहला प्रयास हुआ। भूमिहीन किसानों और 1.5 हेक्टेयर से कम जमीन रखने वाले किसानों की सूची तैयार की जा चुकी थी। गांव सभाओं की आबंटन योग्य 5,58,000 हेक्टेयर भूमि में से 2,89,600 हेक्टेयर का पुनर्वितरण हो गया था। लाभ उठाने वालों में नब्बे प्रतिशत हरिजन थे। लेकिन कागज पर उनके नाम आबंटित ज्यादातर भूमि उनकी अपनी नहीं है। ठाकुरों और ब्राह्मणों द्वारा कहर ढाए जाने के कारण वे उसे जोतने का साहस नहीं कर पाते।"[2]

इस प्रकार, हदबंदी कानून सार्वजनिक उद्देश्य को पूरा करने में बहुत ही कम या बिल्कुल ही नहीं सहायक हुआ। (जैसे कि किसी अन्य राज्य में भी नहीं)। खुद राज्य सरकार द्वारा 1970-71 में किए गए सर्वेक्षण की रिपोर्ट में निहित निष्कर्षों के नीचे दिए गए सारांश से यह बात और भी साफ हो जाती है।

---

2. देखें, एस० सी० काला द्वारा लिखित और 'टाइम्स ऑफ इंडिया' नई दिल्ली, के 13 दिसम्बर 1973 के अंक में प्रकाशित 'यू० पी० हरिजंस डिप्राइव्ड ऑफ बेनीफिट्स ऑफ लैण्ड रिफार्म' लेख।

उत्तर प्रदेश हदबंदी कानून अधिकांशतः निष्क्रिय

एक्सप्रेस न्यूज सर्विस

लखनऊ, 1 जून। ग्यारह साल पहले अधिनियमित जोत भूमि पर हदबंदी लागू करने का कानून राज्य के अधिकतर भागों में, राज्य सरकार की एक एजेंसी द्वारा किए गए सर्वेक्षण के अनुसार, एक निष्क्रिय कानून है।

राज्य के बड़े जोतदारों द्वारा बड़े पैमाने पर और लगभग पूरी तरह से हदबंदी कानूनों का उल्लंघन किए जाने का उल्लेख करने के अलावा इस सर्वेक्षण ने यह तथ्य भी उजागर किया है कि राजस्व अधिकारियों द्वारा दर्ज किए गए बड़े जोतदारों के भूमि रिकार्डों का वास्तविक स्थिति से कोई सम्बन्ध नहीं था। इसमें कहा गया है कि "लगता है कि जहां तक ग्राम भूमि के अधिकारों के रिकार्ड दर्ज किए जाने और कृषि योग्य भूमि के उपयोग का सम्बन्ध है, एक पूरा दुष्चक्र काम कर रहा है। अत्यन्त कठोर और सधे हुए कदम उठाए बिना इस गहरी जड़ों वाली बुराई को खत्म नहीं किया जा सकता। भूमि हदबंदी 1960 में लागू किए जाने के फलस्वरूप मुश्किल से तीन लाख एकड़ भूमि फालतू होने का अनुमान था और इस तरह फालतू निकली भूमि का मुश्किल से 13 प्रतिशत ही पिछले वर्ष तक स्थायी आधार पर वितरित किया जा सका था।" यह सर्वेक्षण जब पूरा हुआ तब अधिकांश फालतू भूमि या तो विवाद के घेरे में थी या भूमिहीनों को वितरित किए जाने की प्रक्रिया में।

बड़े जोतदारों ने हदबंदी कानून के प्रावधानों से बचने के लिए बड़े-बड़े भूखण्ड सीमित दायित्व वाली संस्थाओं, सहकारी कृषि समितियों और धर्मार्थ न्यासों को हस्तांतरित कर दिए थे।

जांच रिपोर्ट में कहा गया कि बड़े भू-स्वामियों के पास "अपने पक्ष में भूमि के रिकार्ड तैयार कराने के लिए लेखपालों को नाजायज ढंग से खुश करने के" साधन थे, और उन्होंने इस तरह के अनेक ज्वलंत उदाहरण पाए। लेखपालों के काम की यद्यपि ढेर सारे अधिकारी निगरानी रखते हैं, फिर भी रिपोर्ट में उल्लेख किया गया कि "पर्यवेक्षण अधिकारियों द्वारा मुश्किल से ही कोई फेरबदल किया गया, क्योंकि यह शायद बहुत जटिल और समय लेने वाली प्रक्रिया थी कि रिकार्डों की जांच और पुष्टि की जाती।"

जांच दल ने पाया कि पूर्वी जिले के एक जोतदार के पास 1960 में लगभग 5,000 एकड़ जमीन थी, जो अभी तक उसके वास्तविक कब्जे में थी और वह फर्जी न्यास और समितियां स्थापित कर तथा झूठे हस्तांतरण दिखाकर उस पर खेती कर रहा था। इस जोतदार ने अपनी बहुत-सी जमीन

अपने ढेर सारे नौकरों के नाम कर दी थी, हालांकि जमीन पर वास्तविक अधिकार जमाए खेती वह खुद कर रहा था। यह सुनिश्चित करने के लिए कि जमीन जिन कर्मचारियों के नाम कर दी गई थी वे कहीं उस पर अपना दावा न कर बैठें, उनमें से हरेक से जमींदारों ने 20,000 रुपये और 25,000 रुपये के बांड लिखवा लिए थे। ये बांड जमींदारों द्वारा हर वर्ष नवीकृत करवा लिए जाते थे।

आगे की जांच से यह भी पता चला कि हदबंदी के बाद जो जमीन वैसे फालतू निकल आती, उसे जाहिरा तौर पर ऐसे अनेक लोगों के नाम कर दिया गया था जो पटना, कलकत्ता, बम्बई, वाराणसी या ऐसे ही किसी अन्य दूरस्थ ठिकानों पर रहते थे। रिपोर्ट में कहा गया कि ये लोग वास्तव में थे भी या फर्जी नाम थे, इसका पता सिर्फ पूरी जांच से ही चल सकता था।

—'इंडियन एक्सप्रेस'
3 जून 1971

फिर भी वस्तुस्थिति यह थी कि चरणसिंह के विचार से बड़े जोतदारों पर भारी कर लगाए जाने की तुलना में हदबंदी कानून को उत्तर प्रदेश में लागू किया जाना अनावश्यक और निष्प्रभावी था। अपनी राय की पुष्टि में उन्होंने 1 जनवरी 1966 को (हालांकि वह उस समय न तो राजस्व मंत्री थे और न ही कृषि मंत्री) एक लेख एक बड़े जोतदार श्री भानु प्रताप सिंह के उस पत्र का जवाब देते हुए लिखा जिसमें सैद्धांतिक आधार पर कानून की आलोचना की गई और जो एक दिन पहले, 31 दिसम्बर 1965 को लखनऊ के 'नेशनल हेराल्ड' में छपा था। चरण सिंह का वह पत्र यहां पुनः उद्धृत है :

चरण सिंह

34, माल एवेन्यू
लखनऊ
1 जनवरी 1966

महोदय

यह आपके 'खाद्य मोर्चा' (फूड फ्रंट) शीर्षक स्तम्भ के अन्तर्गत प्रकाशित श्री भानु प्रताप सिंह के सन्दर्भ में है। श्री भानु प्रताप सिंह कृषि समस्याओं की गहरी जानकारी रखने वाले एक व्यवहारकुशल किसान हैं और विधान सभा में उन्हें हमेशा बड़े सम्मान से सुना जाता रहा है। खाद्य मोर्चे पर कांग्रेसी सरकार के कार्यों का जो आंकलन उन्होंने किया है, उस पर विचार करने और उत्तर देने का काम अधिक योग्य व्यक्तियों के लिए छोड़ते हुए मैं सिर्फ भूमि हदबंदी कानून (उत्तर प्रदेश) के सवाल पर उनके साथ अपने मतभेदों को जाहिर करना चाहूंगा।

राज्य में लागू कानून के तहत सभी मौजूदा जोतें काट कर 40 से 80 एकड़ की कर दी गई हैं या कर दी जाएंगी तथा भविष्य में कोई भी उतनी जमीन हासिल नहीं कर पाएगा जिसे जोड़ने पर उसकी कुल जमीन 12.5 एकड़ से अधिक हो जाए। श्री भानु प्रताप सिंह कहते हैं कि कृषकों द्वारा उस जीवन-स्तर को प्राप्त करने के मार्ग में एक बड़ी बाधा है, जो समुदाय में दूसरों के लिए सुलभ है। इसके चलते कृषि-क्षेत्र से प्रतिभा और पूंजी का पलायन होगा और चूंकि अन्य व्यवसायों में आय पर कोई सीमा निर्धारित नहीं है, इसलिए नतीजतन व्यवसाय के रूप में कृषि का स्तर नीचे चला गया है। उनका मत है कि जब तक इस कानून को रद्द नहीं किया जाता तब तक 'भारतीय कृषि' के आधुनिकीकरण की कोई उम्मीद नहीं।

लेकिन भू-सम्पत्ति और भूम्येतर सम्पत्ति के बीच तुलना जैसी कोई बात नहीं आती। भूमि एक ऐसी सम्पत्ति या उपभोग-सामग्री है जिसे मनुष्य ने नहीं बनाया अथवा न ही उसके बनने में सहायक होता है, जैसा कि कृषि से भिन्न सम्पत्ति के स्वामी के साथ होता है। इसके अलावा, हमारी परिस्थितियों में भूमि एक सीमाबद्ध करने वाली वास्तविकता है, जबकि पूंजी और कृषि से भिन्न सम्पत्ति हर कहीं की तरह यहां भी वैसी नहीं है। फिर यह आसान और व्यावहारिक नहीं कि भूमि पर जैसी हदबंदी है वैसी ही कृषि से भिन्न आय पर भी लागू की जाए।

जहां तक जीवन-स्तर की बात है, हदबंदी को हटाने की बजाए उसे लागू नहीं करने से निश्चय ही कृषकों के लिए उच्चतर जीवन-स्तर प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त होगा, लेकिन सवाल है कि कुल मिलाकर राज्य की अर्थ-व्यवस्था पर कितना और क्या प्रभाव पड़ेगा? हदबदी कानून, 1960, से प्रभावित व्यक्तियों की संख्या नगण्य थी अर्थात् एक हजार से भी कम। जहां तक भावी अर्जितों पर हदबंदी लागू किये जाने की बात है, यह भुला दिया जाता है कि हमारे राज्य में प्रति खेतिहर परिवार की औसत जोतभूमि मुश्किल से 4.0 एकड़ या इसी के आसपास आती है। इस हदबंदी को हटाने का अर्थ यह होगा कि भूमि धीरे-धीरे एकत्र होकर गिने-चुने लोगों के हाथों में आ जाएगी और आज के ज्यादातर किसान खेतिहर मजदूर होकर रह जाएंगे या उनकी जोतें छोटी होते-होते और भी अनार्थिक आकार की हो जाएंगी। इससे आगे चलकर हमारे लोगों की आमदनियों में असमानताएं, जो आज भी कम नहीं और भी बढ़ेंगी और लोकतंत्र को खतरे में डालेंगी।

उत्पादन पर हदबंदी के प्रभाव की बात जहां तक है, श्री भानु प्रताप सिंह निश्चित रूप से यह सोचते हुए प्रतिष्ठित लोगों के साथ हैं कि 'बड़े पैमाने पर

खेती' और 'आधुनिक कृषि' समानार्थी शब्द हैं। यह हमारे नीति नियामकों और शीर्ष राजनीतिक नेतागणों की निराधार धारणा है, जिसके फलस्वरूप गलत नीतियां रूपायित हुई हैं और देश में कृषि उत्पादन की स्थिति बिगड़ गई है।

बड़े फार्म का मतलव प्रति एकड़ बहुत ज्यादा उत्पादन नहीं है। कृषि में फसलें चाहे छोटे भूखण्ड या बड़े भूखण्ड में लगाई जाए, परिपक्व होने में एक ही जैसा समय लेती हैं और सिद्धान्ततः फार्म के आकार का प्रति एकड़ उपज के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। जहां तक टेक्नोलॉजी की बात है, संक्षेप में कहें तो कृषि टैक्नोलॉजी के सिर्फ तीन समूह हैं, यानी (1) जीव विज्ञानियों द्वारा वैज्ञानिक विधि से विकसित वनस्पतियों और जीवों की किस्में जिनमें अनेक प्रकार की संकर प्रजातियां और मवेशियों और मुर्गियों की बीमारियां आदि दूर करने के टीके शामिल हैं; (2) रसायन विज्ञानियों द्वारा तैयार की गई चीजें जिनमें उर्वरक, कीटनाशक, फफूंदीनाशक के साथ-साथ खरपतवारनाशी और पशुधन के पूरक आहार शामिल हैं और (3) भौतिक विज्ञानियों और इंजीनियरों द्वारा प्रस्तुत ट्रैक्टर तथा खेती के अन्य यंत्र जैसी वस्तुएं और भण्डारण जैसी सुविधाएं।

अब इनमें से किसी भी टेक्नोलॉजी के लिए बड़ा फार्म आवश्यक नहीं है और बड़े फार्मों की तरह छोटे फार्मों में भी इन्हें प्रयोग में लाया जा सकता है।

लेकिन वास्तविक व्यवहार में यह विदित है कि मालिक के ज्यादा-से-ज्यादा श्रम और निगरानी के चलते छोटे फार्म बड़े फार्मों की अपेक्षा ज्यादा प्रति एकड़ उपज देते हैं। मैं इस पत्र को आंकड़ों से बोझिल नहीं करना चाहता और अपने को इसी उल्लेख तक सीमित रखूंगा कि यूरोपीय फार्म, जो औसतन अमेरिका और सोवियत संघ के फार्मों की अपेक्षा छोटे हैं, उनसे ज्यादा उपज देते हैं। जापान एक और बढ़ा-चढ़ा उदाहरण है जहां औसत फार्म का आकार मुश्किल से 3.5 एकड़ है। श्री भानु प्रताप सिंह और उन्हीं की तरह सोचने वाले लोग यह जानने में रुचि लेंगे कि जापान ने भूमि के भावी अर्जनों पर 7.5 एकड़ की हदबंदी लागू की है; यह जैसा कि कांग्रेसी सरकार ने किया है, उत्तर प्रदेश में पारिवारिक जोत के औसत आकार का तिगुना है।

सम्भवतः यह उल्लेख यहां प्रासंगिक होगा कि भूमि पर हदबंदी का अर्थ आमदनी पर हदबदी नहीं है। अगर किसान के पास संसाधन की सुविधाएं सुलभ हैं और अपने काम की जानकारी वह रखता है तथा आवश्यक श्रम

उसमें लगाता है, तो आज जो आय वह अर्जित करता है उससे चार गुना अधिक अर्जित कर सकता है।

अंततः किसानों की मुक्ति (और कुल मिलाकर देश की गरीबी की समस्या का हल) उनकी संख्या कम करने और उच्चतर आय देने वाले कृषि से भिन्न व्यवसायों में उन्हें लगाने में निहित है। हमारी गरीबी का मुख्य कारण हमारे गांवों में रोजगार का भारी संकट है, दूसरे शब्दों में, इस तथ्य में कि बहुत ही छोटे आकार की जोतें होने के फलस्वरूप हमारी कृषि में बहुत ही ज्यादा अतिरिक्त श्रम-शक्ति लगी हुई है और यहां श्रम-संसाधन की कमी तो है ही नहीं जैसी कि हममें से कुछ लोग कल्पना करते हैं या उपदेश देते हैं। गांव के शिक्षित युवकों को कि वे अपने खेतों को नहीं छोड़ें और शहरों के शिक्षित युवकों को कि वे गांवों में चले जाएं और वे इस पर यकीन करने लगते हैं। गरीबी दूर करने और 'हमारे किसानों के जीवन-स्तर को ऊंचा करने' का जो तरीका श्री भानु प्रताप सिंह सरीखे देश के प्रत्येक शुभचिन्तक के दिलो-दिमाग में जमा हुआ है, उसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है : ब्रिटेन में, जहां पिछली सदी के दौरान आबादी में किसानों का प्रतिशत क्रमशः गिरते-गिरते 5 पर पहुंच गया जिसके फलस्वरूप उनमें से प्रत्येक का जोत-क्षेत्र बढ़कर 80 एकड़ से भी अधिक हो गया; और तब तक अमेरिका में, जहां सिर्फ पिछले 15 वर्षों के दौरान ही किसानों की संख्या 13 प्रतिशत से घटकर 7 प्रतिशत रह गई और परिणामतः औसत जोतभूमि 215 एकड़ से बढ़कर 300 एकड़ हो गई।

हालांकि यह परिवर्तन यहां तभी लाया जा सकेगा जब हमारे किसान अपने उत्पादन को इस हद तक बढ़ाने में कामयाब हो जाएं कि वह आवश्यकताओं से अधिक हो तथा अपने भीतर वे सही सोच की मानसिकता विकसित कर लें। भूमि कानून के क्षेत्र में सिर्फ दो ही कदम ऐसे हैं जिनसे इस परिवर्तन में मदद मिल सकती है; जैसे, जो शरीर और मन से स्वस्थ हैं, उनके द्वारा शिकमी लगाये जाने पर रोक और दूसरे, ज्येष्ठाधिकार कानून का अधिनियम न। इनमें से पहला कदम उत्तर प्रदेश में उठाया जा चुका है। दूसरे के लिए शायद समय अभी भी अनुकूल नहीं है। अंतहीन दबाव झेल रहे किसान स्वेच्छा से या मजबूर हो अपनी जमीन बेचने लगें तो खरीदने वाले के मनसूबे बढ़ेंगे और इससे हमारी समस्याएं फिर बदतर ही होंगी; निम्नतम कृषि-मूल्यों के निर्धारण जैसे उपाय कारगर नहीं हुए और न होंगे ही, नतीजतन किसान अपनी जमीन से चिपके रहेंगे।

मैं यह भी जोड़ सकता हूं कि इस पत्र के जरिए मैंने इस विषय पर अपने विचार संक्षेप में आपके पाठकों के समक्ष इसलिए रखे हैं ताकि वे इनका महत्त्व समझें, लेकिन आगे किसी विवाद में भाग लेने की मेरी इच्छा नहीं है।

सम्पादक
'नेशनल हेराल्ड',
लखनऊ

आपका विश्वस्त
हस्ताक्षर
(चरण सिंह)

13

भूमि-कर में वृद्धि का विरोध

जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार कानून में यह व्यवस्था थी कि सीरदारों और भूमिधरों द्वारा चुकाए जा रहे भूमि-कर (लगान) अगले 40 वर्षों तक अपरिवर्तित रहेंगे। फिर भी, दस साल बाद 1962 में तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री सी० बी० गुप्त ने उसमें 50 प्रतिशत की वृद्धि करने की बात छेड़ दी। चरण सिंह ने उस प्रस्ताव का जोरदार विरोध किया और मुख्यमत्री के समक्ष अपने 29 सितम्बर 1962 के विस्तृत गोपनीय नोट के जरिए विरोध का बौद्धिक पक्ष पेश किया, जो नीचे दिया जा रहा है। मामला योजना आयोग और नई-दिल्ली के कांग्रेसी नेतृत्व तक जा पहुंचा; अन्ततः प्रस्ताव को वापस ले लिया गया।

तीसरी पंचवर्षीय योजना के लिए धन जुटाने की दृष्टि से राज्य सरकार ने जोत-भूमि-कर विधेयक प्रस्तुत किया है जिसका उद्देश्य जोतदारों द्वारा आज चुकाए जा रहे भू-राजस्व में 50 प्रतिशत की वृद्धि करना है। राज्य सरकार को यह क़दम क्यों नहीं उठाना चाहिए, इसके निम्नांकित पांच बहुत ही ठोस कारण हैं :

(अ) किसानों की आर्थिक स्थिति उनके वित्तीय बोझ को बढ़ाने की अनुमति नहीं देती;

(आ) उत्तर प्रदेश में भूमि पर पहले ही से करों का भारी बोझ है तथा ग्रामीण या कृषक कर चुकाने के प्रयास में पीछे नहीं रहे हैं;

(इ) कर आवश्यक नहीं है क्योंकि अन्य तरीकों से धन जुटाया जा सकता है और वांछित फल प्राप्त किये जा सकते हैं;

(ई) राजनीतिक दृष्टि से यह विधेयक कांग्रेस के लिए बहुत ही नुकसानदेह कदम सिद्ध होगा; और

(उ) भू-राजस्व में कोई वृद्धि जनता को विधिवत दिये गये उस आश्वासन और जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार कानून, 1952 में समाविष्ट इस प्रावधान के विरुद्ध होगा कि अगले चालीस साल तक राज्य की राजस्व मांग में वृद्धि नहीं होगी।

तालिका 13.1

भारत में प्रति व्यक्ति आय और उत्तर प्रदेश में प्रति व्यक्ति आय को 1948-49 के मूल्य पर दर्शित करने वाला वक्तव्य

वर्ष	भारत में	उ० प्र० में प्रति व्यक्ति आय			उ० प्र० के ग्रामीण और शहरी क्षेत्र में प्रति व्यक्ति आय का प्रतिशत
		कुल	ग्रामीण	शहरी	
	रु०	रु०	रु०	रु०	
1948-49	249.6	238.37	188.97	547.17	289.6
1949-50	250.6	250.25	194.20	601.71	309.8
1950-51	247.5	252.35	190.93	639.45	334.9
1951-52	250.3	244.86	183.63	632.64	344.5
1952-53	255.7	248.49	185.12	656.41	354.6
1953-54	266.2	244.68	183.65	639.30	348.1
1954-55	267.8	261.04	192.70	705.58	366.2
1955-56	267.8	259.10	187.35	727.87	388.5

1956-57	275.6	251.95	192.65	645.93	335.3
1957-58	267.4	241.58	179.55	656.06	365.4
1958-59	280.2	251.45	190.53	660.67	346.8
1959-60	279.0	248.83	189.41	650.03	343.2
1960-61	292.5*	262.54	202.61	669.28	230.3

*प्राथमिक ।

कृषकों की आर्थिक स्थिति

उत्तर प्रदेश के आर्थिक गुप्तचर्या और सांख्यिकी विभाग द्वारा प्रस्तुत एक वक्तव्य तालिका-13.1 में दिया जा रहा है जिसमें 1948-49 से अब तक की राज्य की कुल आय और प्रति व्यक्ति आय के ब्यौरे हैं तथा ग्रामीण और शहरी क्षेत्र अलग-अलग दिखाए गये हैं।

यह दिखेगा कि पिछले वर्ष 1960-61 को छोड़कर, जिसमें अपवाद के तौर पर मौसम अच्छा रहा, ग्रामीण आय रु० 179.55 और रु० 194.20 के बीच रही। शेष ग्यारह में से पांच वर्षों के दौरान तो गिरावट आधार राशि रु० 188.97 से भी नीचे चली गई। उसी अवधि में शहरी आय रु० 601.71 और रु० 727.87 के बीच रही। "किसी भी वर्ष में आधार राशि से नीचे की गिरावट नहीं आई।" 1960-61 के आंकेड़े समेत 12 वर्षों की अवधि का औसत निकालने पर प्रति व्यक्ति ग्रामीण आय रु० 189.36 और प्रति व्यक्ति शहरी आय रु० 657.08 पाई गयी। इसलिए 194.49 के बाद ग्रामीण क्षेत्र की प्रति व्यक्ति आय में कोई वृद्धि नहीं हुई : कुल आय में जो वृद्धि हुई भी तो उसे तकरीबन पूरा-का-पूरा जनसंख्या-वृद्धि ने सोख लिया; जबकि शहरी क्षेत्र में प्रति व्यक्ति आय सीधे 20 प्रतिशत बढ़ गई परिलक्षित होती है। दोनों आयों के बीच की असमानता कम होने के बजाए बढ़ती ही गई है :

तालिका-13.2

अवधि	ग्रामीण	शहरी	दोनों के बीच असमानता	
			ग्रामीण	शहरी
1948-49	188.97	547.17	100	285
1960-61	202.61	669.28	100	330
बारह वर्षों का औसत				
1949-61	189.36	657.08	100	317

स्वाधीनता के बाद हमने ग्रामीणों और तुलनात्मक दृष्टि से निर्धनतर लोगों की आय में सुधार लाने की बड़ी-बड़ी बातों के साथ अपनी योजनाएं और विकास की गतिविधियां शुरू की थीं और दो पंचवर्षीय योजनाओं की समाप्ति पर हमें सिर्फ नगरवासियों और अपेक्षाकृत धनिकों की आय सुधारने में कामयाबी मिली। साफ है कि कोई चीज या कुछ चीजें हैं जो कहीं-न-कहीं गलत हैं।

किसी-किसी क्षेत्र में यह धारणा घर किये हुए है कि चूंकि कृषि उत्पादनों की

कीमतें बहुत ऊंची हैं, इसलिए किसानों के लिए तो "इतना बढ़िया समय कभी नहीं था"। हालांकि यह धारणा दो मिथ्या अवधारणाओं पर आधारित है :

(1) कि हर किसान के पास बेचने के लिए फालतू अनाज होता है। जबकि वस्तुत: हमारे कम-से-कम आधे ऐसे किसानों के पास बाजार में बेचने के लिए नाममात्र का या जरा भी अनाज नहीं होता है, जो अपनी कम उपज वाली छोटी-छोटी जमीन पर खेती करते हैं। उनका उत्पादन मुश्किल से उनके उदर-पोषण की जरूरतें ही पूरी कर पाता है।

(2) कि कृषि उत्पादनों की कीमतें गैर-कृषि वस्तुओं की तुलना में अपेक्षाकृत ऊंची हैं—पहले जितनी होती थीं उससे उच्चतर। लेकिन जैसा कि आगे उद्धृत राज्य के आर्थिक गुप्तचर्या और सांख्यिकी विभाग द्वारा तैयार की गयी तालिका दिखाती है, 1948 से कृषि उत्पादनों की कीमतें निश्चित रूप से गिरी हैं जबकि गैर-कृषि उत्पादनों की कीमतों में काफी बढ़त आई है।

अगर मौजूदा या 1960-61 की कीमतों पर विचार करें—यही किसी नागरिक के लिए महत्त्व रखता है—तो ग्रामीण क्षेत्र की प्रति व्यक्ति आय (1948-49 के मूल्यों पर)—जो स्थिर रही है—में 5.3 प्रतिशत की कमी नजर आएगी और उधर गैर-कृषि वस्तुओं के उत्पादकों ने मूल्यों में 19.7 प्रतिशत वृद्धि दर्ज की। इससे पता चलता है कि जहां गैर-कृषि उत्पादकों को आज उन्हीं वस्तुओं के लिए 1948-49 की अपेक्षा 5.3 प्रतिशत कम भुगतान करना पड़ता है वहीं किसानों को 26.4 प्रतिशत ज्यादा भुगतान करना पड़ता है।,

तालिका-13.3

उत्तर प्रदेश में थोक मूल्य सूचकांक, गैर-कृषि खुदरा मूल्य सूचकांक और कृषि तुल्यता सूचकांक सम्बन्धी विवरण

वर्ष	कृषि थोक मूल्य सूचकांक 1948=100	गैर-कृषि खुदरा मूल्य सूचकांक 1948=100	कृषि तुल्यता सूचकांक कॉलम 2×100 कॉलम 3,1948=100
1	2	3	4
1952	98.0	101.0	97.2
1953	95.9	95.9	100.0
1954	80.9	95.8	84.3
1955	64.8	91.6	70.7
1956	82.8	98.8	83.7
1957	90.2	103.3	88.1

1958	103.0	103.5	99.4
1959	101.4	107.5	95.5
1960	97.0	115.0	84.3
1961	94.7	119.7	79.1

ग्रामीण क्षेत्र की ऋणग्रस्तता अंशत: कांग्रेस सरकार द्वारा 1939 में दूरगामी ऋण कानून लागू किये जाने और अधिकांशत:) 1942-43 से लगातार कृषि उत्पादनों की कीमतों में वृद्धि होने के चलते कांग्रेस द्वारा 1946 में पुन: सत्ता की बागडोर हाथ में लेने से पहले ही गायब हो चुकी थी। फिर भी राज्य के पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही हिस्सों के बड़े भूभाग 1950 से आज तक लगातार किसी-न-किसी प्राकृतिक प्रकोप के शिकार होते रहे हैं। परिणामस्वरूप कुल मिलाकर राज्य के ग्रामीण क्षेत्र में न केवल आर्थिक प्रगति नहीं हुई, बल्कि ऐसा लगेगा कि राज्य के कुछ खास हिस्सों में हालत पहले से बदतर होती रही है। पूरे राज्य में जोतदारों और खेतिहार श्रमिकों सहित बहुत बड़ी तादाद में किसान आज चालीस वाले दशक के आखिरी पांच वर्षों (1946-50) की अपेक्षा कहीं ज्यादा ऋणग्रस्त हैं।

हालांकि प्राकृतिक विपदाओं के अलावा राज्य की मौजूदा आर्थिक स्थिति या इसकी विफलता के दूसरे कारण भी शायद कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं (वस्तुत: हैं), लेकिन उनका जिक्र यहां आवश्यक नहीं है।

प्लानिंग रिसर्च एण्ड एक्शन इंस्टीट्यूट, उ० प्र० द्वारा 1958 में घोसी सामुदायिक विकास प्रखण्ड को अध्ययन का विषय बनाया गया था। यह क्षेत्र आजमगढ़ जिले का हिस्सा है। यह राज्य का पहला क्षेत्र था जिसे 1952 में गहन विकास कार्य के लिए चुना गया था। अध्ययन को 'कम्युनिटी डवलपमेंट एण्ड इकोनॉमिक डेवलपमेंट (सामुदायिक विकास और आर्थिक विकास) शीर्षक दिया गया, जो 1960 में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा प्रकाशित हुआ।

सन् 1957-58 के अंत तक के तीन वर्षों के दौरान की ऋणग्रस्तता का पता लगाने के लिए क्षेत्रीय खोजें की गयीं। परिणामों को तालिका 13.4 में संक्षिप्त रूप दिया गया है :

तालिका 13.4

प्रत्येक ऋणग्रस्त जोतदार परिवार द्वारा ऋण लेना और चुकाया जाना

अवधि और ऋण	प्रखण्ड जोतदार		
	छोटे	मध्यम	बड़े
1955-56			
ऋण लिया	81	109	145
ऋण चुकाया	55	70	111
1956-57			
ऋण लिया	84	99	205
ऋण चुकाया	46	67	84
1957-58			
ऋण लिया	100	159	274
ऋण चुकाया	42	61	66

जिले के किसानों की बदतर होती आर्थिक स्थिति का इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण कुछ और नहीं हो सकता। गांवों में विकास की गतिविधियों के बावजूद समय जैसे-जैसे बीतता गया, सभी प्रकार के जोतदारों पर ढेर सारा ऋण भी बढ़ता गया।

उसी वर्ष यानी 1958 में नेशनल काउंसिल ऑफ एप्लायड इकोनॉमिक रिसर्च द्वारा बस्ती जिले की आर्थिक स्थितियों का अध्ययन आयोजित किया गया। अध्ययन को रिहैबिलिटेशन एण्ड डवलपमेंट ऑफ बस्ती डिस्ट्रिक्ट (बस्ती जिले का पुनर्वास और विकास) शीर्षक दिया गया और वह 1959 में एशिया पब्लिशिंग हाउस द्वारा प्रकाशित हुआ। उसमें यह पाया गया था कि तकरीबन 71 प्रतिशत परिवारों ने दूध का उपयोग किया ही नहीं था और सिर्फ 15 प्रतिशत के आहार में पर्याप्त प्रोटीन था।" कुल उपभोक्ता व्यय का तकरीबन 85 प्रतिशत आहार ले लेता था, जिसका अर्थ है कि सिर्फ कपड़ा, घर की मरम्मत, शिक्षा, दवा-दारू, लगान और सिंचाई शुल्क सरीखे सरकारी बकाये, शादी-ब्याह और कितने ही अन्य आवश्यक और गृहस्थी की फुटकर जरूरतों के लिए सिर्फ 15 प्रतिशत रह जाते थे। अध्ययन के अनुसार सिर्फ 15 प्रतिशत परिवार अखिल भारतीय औसत आय-स्तर पर या उससे ऊपर जीवन बसर कर रहे थे। उत्तर प्रदेश और कुल मिलाकर भारत की तुलना में बस्ती जिले की आर्थिक स्थिति तालिका 13.5 में दर्शित है :

तालिका 13.5

1955-56 में बस्ती,* उत्तर प्रदेश और भारत में प्रति व्यक्ति आय
(रुपयों में)

क्षेत्र	राष्ट्रीय प्रति-व्यक्ति आय	कृषि और सम्बद्ध व्यवसायों से प्रति सदस्य आय		कृषि से भिन्न उत्पादन पर आश्रित जनसंख्या में प्रति-व्यक्ति आय
		कुल जनसंख्या में	भूमि पर आश्रित जन-संख्या में	
बस्ती	165	104	116	363
उत्तर प्रदेश	265	112	152	419
भारत	272	131	187	434

आजमगढ़ और बस्ती के लिए वार्षिक भू-राजस्व की मांग क्रमश: रु० 55,87,000 और रु० 63,68,000 है। इन दोनों जिलों के किसानों से और भी बोझ वहन करने के लिए कहने से पहले हमें अवश्य ही बार-बार सोचना चाहिए।

समय बीतने के साथ-साथ उत्तर प्रदेण में भू-जोतें, जिनमें से ज्यादातर तो पहले ही छोटी थीं, अब और भी छोटी-से-छोटी होती जा रही हैं, फलस्वरूप जोतदारों और खेतिहर मजदूरों, दोनों ही में रोजगार की कमी पहले से अधिक हो गई है। रोजगार की कमी में इजाफा होने से आर्थिक कठिनाइयां आवश्यक रूप से बढ़ेंगी। भारत सरकार ने देश-भर में खेतिहर मजदूरों की आर्थिक स्थिति की दो बार जांच कराई थी, पहली 1950-51 में और 1956-57 में। दूसरी जांच दिखाती है कि इस बीच उत्तर प्रदेश में (तीन या चार अन्य राज्यों की तरह ही) खेतिहर श्रमिकों की दशा बहुत ही बदतर हो गई थी :

*बस्ती के आंकड़े 1955-56 की कीमतों पर आधारित हैं, जबकि उत्तर-प्रदेश और भारत के आंकड़े 1948-49 की कीमतों पर।

अध्ययन बताता है कि "कृषि से होने वाली आय को कुल आय की अपेक्षा ज्यादा महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है, क्योंकि कुल जनसंख्या का 90 प्रतिशत जीवन निर्वाह के लिए भूमि पर ही आश्रित है।" (पृष्ठ 8)। बहुत ही पीड़ादायक यह अध्ययन इस दुःखद निष्कर्ष पर पहुंचता है कि बढ़ती जनसंख्या और सीमित संसाधनों के चलते लोगों का जीवन-स्तर 1921 में जो था, उससे भी निम्नतर हो गया है (पृष्ठ 1-2)।

तालिका 13.6

1950-51 और 1956-57 में खेतिहर श्रमिक परिवारों की वार्षिक आय

राज्य	आय		प्रतिशत में भिन्नता
	1950-51	1956-57	
उड़ीसा	340	319	6.2
मद्रास	371	375	—
आन्ध्र प्रदेश	381	426	—
मैसूर	388	486	—
मध्य प्रदेश	391	336	14.1
बम्बई	415	450	—
केरल	486	437	10.0
बिहार	535	420	21.5
उत्तर प्रदेश	551	373	32.3
राजस्थान	605	336	44.5
पश्चिम बंगाल	608	657	—
असम	609	775	—
पंजाब	686	731	—

स्रोत : "एग्रीकल्चरल लेबर इन इंडिया, रिपोर्ट ऑन द सेकंड एन्क्वायरी", खण्ड-1, प्रकाशन संख्या-53, श्रम और रोजगार मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ 138-39।

पहली जांच के अनुसार उत्तर प्रदेश में 1950-51 के दौरान एक खेतिहर मजदूर परिवार का उपभोक्ता व्यय रु० 543 था। मतलब यह कि आय और व्यय संतुलित थे। फिर भी 1956-57 में जाकर व्यय रु० 615 तक पहुंच गया। जैसा कि जांच की रिपोर्ट में उल्लेख है, परिसम्पत्तियां बेचकर और ऋणों के जरिए इस खाई को पाटा गया।

दूसरी जांच से प्राप्त निष्कर्षों की प्रामाणिकता पर जिन्हें किसी तरह का संदेह हो, वे 16 सितम्बर 1962 के 'पायनियर' में प्रकाशित इस समाचार-अंश को देख सकते हैं :

"द्वितीय खेतिहर श्रमिक जांच समिति की रिपोर्ट की जांच करने वाली तकनीकी समिति की राय यह थी कि पिछले दशक के दौरान खेतिहर मजदूरों का जीवन-स्तर स्थिर रहा। कुछ राज्यों में इसमें सुधार नजर आया, जबकि अन्य राज्यों में स्थिति निश्चित रूप से बदतर हुई।"

राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश नि:सन्देह दूसरी श्रेणी में आ गए।

चर्चा के क्रम में हम तात्कालिक बिन्दु पर लौट चलें—भारत जैसे देश में जहां अनुबन्ध की स्वतन्त्रता है, कामगार की आर्थिक स्थिति उसके मालिक की स्थिति का संकेतक है। इस बीच जमींदारी या सामन्तवाद से मुक्ति मिलने के बावजूद कामगार यानी खेतिहर श्रमिक की आर्थिक स्थिति बदतर हुई है और यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसके मालिक या जोतदार की स्थिति सुधरी है।

द्वितीय जांच रिपोर्ट कहती है कि "संसाधनों से होने वाली आय के विश्लेषण से पता चलेगा कि उत्तर प्रदेश के मामले में खेतिहर श्रमिक की आय में भारी गिरावट के चलते ही यह गिरावट आई थी।" (पृष्ठ 139)

तालिका-13.7

वर्ष	जोतभूमि	खेतिहर श्रमिक	गैर-खेतिहर श्रमिक	अन्य	कुल
1950-51	61.71	379.34	56.20	53.45	551
1956-57	34.88	249.64	37.07	50.07	373
गिरावट	56.83	130.00	19.13	2.54	178

राज्य में खेती के काम में लगे वयस्क व्यक्तियों की दैनिक मजदूरी-दर 1950-51 के 118 नये पैसे से घटकर 1956-57 में 92 नये पैसे रह गई।

उत्तर प्रदेश के खेतिहर श्रमिकों की आय में इस भारी गिरावट का मुख्य कारण इस तथ्य में निहित है कि जोतभूमि के आकार में कमी आने से जोतदार और उसके परिवार के लिए यह सम्भव हो गया कि वे बाहरी श्रमिकों के बिना या पहले की अपेक्षा कम बाहरी श्रमिकों की मदद से अपने खेत की देखभाल अच्छी तरह कर सकें।

हमारे पूर्वी जिले खास-तौर से आर्थिक अभाव और तंगी के शिकार हैं। उनकी आज की दुरवस्था का पता अंशतः इस तथ्य से चलता है कि लाखों की तादाद में जो वहां के श्रमिक और छोटे-छोटे किसान बर्मा, असम, कलकत्ता और बम्बई में जाकर काम करने लगे थे, वे अपने ही जिलों में स्वागत योग्य नहीं रहे, बल्कि उन्हें खदेड़ा जाने लगा। उनकी आय के इस अतिरिक्त स्रोत के धीरे-धीरे

सूख जाने से उनकी आर्थिक दिक्कतें तेजी से बढ़ती जा रही हैं।

साथ ही इस पर भी विवाद नहीं हो सकता कि ग्रामीण क्षेत्र में सुधार 'परिलक्षित' है। किसानों ने नई उपभोक्ता वस्तुएं अपनाई हैं—अपने बच्चों के लिए शिक्षा, बीमारों के लिए दवाएं, बेहतर कपड़े, सोने के लिए दरी-बिछौने, मिट्टी के बर्तनों के बजाए एल्युमिनियम या स्टील के बर्तन और तवे तथा आने जाने के लिए बाइसिकल के अलावा टी-सेट, बिजली के टार्च, घड़ियां, पक्के मकान और रेडियो भी। लेकिन इस 'सुधार' से किसी भ्रामक निष्कर्ष पर पहुंचने से पहले दो बातें ध्यान में रखने की हैं:

(1) सुधार दरअसल बहुत मामूली है और ग्रामीण आबादी के मुश्किल से 10 प्रतिशत तक सीमित है। इसके अलावा, अपेक्षाकृत अच्छे-खासे किसानों के इस 10 प्रतिशत वाले स्तर में ज्यादातर वे हैं जो या तो खुद या अपने परिवार के सदस्य के द्वारा अपनी आय का अधिकांश गैर-कृषि संसाधनों से प्राप्त करते हैं, उदाहरण के लिए सरकारी नौकरी, सरकारी या स्थानीय निकायों से ठेके, बसों के लिए परमिट, नियंत्रित वस्तुओं के लिए लाइसेंस, ईंट के भट्टे आदि के जरिए।

(2) ऊपर उल्लिखित उपभोक्ता वस्तुओं पर होने वाले व्यय अधिकांशतः सिर्फ एक बदली हुई जीवन-पद्धति का प्रतिनिधित्व करते हैं, जीवन स्तर में किसी सुधार के नहीं। उदाहरण के लिए, ग्रामीण क्षेत्रों में दूध और दुग्ध-उत्पादनों की खपत घट रही है और चाय धीरे-धीरे उनका स्थान ले रही है, लेकिन कोई भी इस पर गम्भीरता से यह दलील नहीं देगा कि यह एक वांछनीय विकास है, न ही इसे इस अर्थ में लेगा कि यह जीवन-स्तर में सुधार है। दूध की अपेक्षा चाय कहीं ज्यादा सस्ती है जो अब बड़े शहरों में आम तौर पर बेची जाती है। राज्य या देश में जहां दूसरे तरह के जानवरों की संख्या तेजी से बढ़ रही है, वहीं घोड़े-घोड़ियां तेजी से गायब होती जा रही हैं, जो कुछ समय पहले तक ग्रामीण अंचलों में बहुतायत से होती थीं। पिछले दशक के दौरान ही राज्य में इन जानवरों की संख्या 21.9 प्रतिशत नीचे चली गयी। अगर खालीपन को बाइसिकल से भरा गया है तो इससे यह सूचित नहीं होता कि ग्रामीण आय में वृद्धि हुई है। पिछले दस वर्षों के दौरान आभूषणों पर, जो नारियों की एक कमजोरी है, होने वाला खर्च बहुत ही नीचे चला गया। आज जो लोग खर्च कर सकते हैं, वे अपने बच्चों की शिक्षा पर या पक्के मकान पर रुपये खर्च करना चाहेंगे, सोने या चांदी के गहनों पर तो नहीं ही करना चाहेंगे जो कि सामाजिक मूल्यों में एक स्वागत योग्य परिवर्तन के चलते अब हैसियत के प्रतीक नहीं रह गए। स्वाधीनता के बाद से पक्के मकान बनवाने की जहां तक बात है, वे सिर्फ कुछ नकदी फसल वाले इलाकों में दिखाई देते हैं, लेकिन पुराने को मिला

देने पर भी वे राज्य के ग्रामीण क्षेत्रों के कुल मकानों की संख्या के पांच प्रतिशत भी नहीं होते।

डॉ० एस० एस० गुप्ता, जिन्होंने अलीगढ़ जिले के गांवों में खेतिहर किसानों के बदलते उपभोक्ता ढर्रे का सर्वेक्षण किया था, 16 जनवरी 1960 के 'ए० आई० सी० सी० इकोनॉमिक रिव्यू' में प्रकाशित अपने एक लेख में कहते हैं :

"व्यय के ढर्रे में परिवर्तन की उपर्युक्त चर्चा से संकेत मिलता है कि खेतिहर श्रमिक गांव की आबादी के अन्य वर्गों की तरह ही अपने बजट में कुछ नई वस्तुएं शामिल करने और कुछ पुरानी वस्तुएं छोड़ने को उत्सुक हैं। परिवर्तन को अपनाने की यह प्रवृत्ति प्रशंसनीय है, क्योंकि यह सुधार के लिए रास्ते खोलती है। फिर भी, इन नई दिख रही प्रवृत्तियों का उदास कर देने वाला पहलू यह है कि इनका लक्ष्य जीवन-स्तर को उठाना नहीं है बल्कि व्यय को ये बढ़ाती हैं। उदाहरण के लिए, शराब पीने लगना या जूतों का इस्तेमाल करना जो मौजूदा भारतीय गांवों में नहीं बनते या दूध और दुग्ध उत्पादनों को छोड़कर उनकी जगह चाय शुरू कर देना या ज्यादा टिकाऊ कपड़े का इस्तेमाल छोड़कर बारीक मगर कम टिकाऊ कपड़े को प्राथमिकता देना या शादी-ब्याह जैसे अवसरों पर बेतहाशा पैसे बर्बाद करना—ये सब नई बातें दिखाती हैं कि श्रमिकों के खर्च पर काबू रखने और उन्हें सलाह देने की निश्चित रूप से आवश्यकता है ताकि वे अपनी स्थिति को बेहतर बनाने में सक्षम हों।"

ग्रामीण क्षेत्रों में रहन-सहन की स्थितियों में सुधार के बारे में इस तरह की धारणा आर्थिक तथ्यों के किसी ठोस सर्वेक्षण पर आधारित नहीं है। सिर्फ प्रति एकड़ आय के आंकड़ों से ही सही निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। योजना आयोग की शोध कार्यक्रम समिति ने 1954-55 में उत्तर प्रदेश के मेरठ और मुजफ्फरनगर जिलों के 32 गांवों में फार्म प्रबन्धन सर्वेक्षण कराया था। लागत-लेखा पद्धति के अनुसार आंकड़े इस प्रकार हैं।

तालिका-13.8

प्रति एकड़ निवेश-मूल्य, प्राप्तियां, सकल लाभ या हानि, पारिवारिक श्रम की आय और फार्म व्यवसाय की आय

आकार-समूह	प्रति एकड़ मूल्य रुपये में				
	निवेश	उत्पादन	सकल लाभ (+) या हानि (—)	पारिवारिक श्रम की आय	फार्म व्यवसाय की आय
5 से नीचे	344.14	313.13	—30.63	50.25	68.55
10 से नीचे	252.74	300.56	+47.82	119.87	133.29

15 से नीचे	183.93	253.84	+49.91	91.81	102.21
20 से नीचे	171.97	238.90	+66.93	111.84	120.92
और ऊपर	151.34	252.12	+100.78	124.11	132.33
औसत	203.97	264.11	+60.14	111.06	121.97

निवेश में निम्नांकित मदों के कुल मूल्य शामिल हैं :

बैल-श्रम	रु० 93.70
मानव-श्रम	रु० 58.50
परिवार	रु० 37.00
भाड़े पर	रु० 21.50
उर्वरक और खाद	रु० 7.1
औजारों का रख-रखाव	रु० 7.2
भूमि-राजस्व और उपकर	रु० 5.6
सिंचाई शुल्क	रु० 7.6
चालू पूंजी पर ब्याज	रु० 10.8
बीज	रु० 13.4
कुल	रु० 203.9

"पारिवारिक श्रम की आय" में शुद्ध लाभ या हानि के साथ-साथ किसान और उसके परिवार द्वारा किए गए श्रम की मजदूरी का निवेश शामिल है। रिपोर्ट में कहा गया कि यह 'फार्म व्यवसाय की आय' है, फिर भी किसी किसान की कुल कमाई का जो असली पैमाना है, उसमें 'पारिवारिक श्रम की आय' सहित निजी स्वामित्व वाली पूंजी पर बकाया ब्याज (और स्वामित्व प्राप्त भूमि पर बकाया लगान) शामिल है।

सर्वेक्षण के मुताबिक, जो कि एक बहुत सक्षम दल द्वारा किया गया था, मेरठ और मुजफ्फरनगर जिलों में किसानों की शुद्ध औसत आय रु० 121.97 प्रति एकड़ पाई गई थी। यह याद रखने की बात है कि इन दोनों जिलों में खेती योग्य वही इलाका आता है जिसे राज्य में सही तौर पर सर्वोत्तम माना जाता है तथा यह कि जिन गांवों में सर्वेक्षण किया गया था, वहां कृषि-क्षेत्र के 48.2 प्रतिशत में गन्ना जैसी नगदी फसलें उगाई जाती हैं जबकि पूरे राज्य के लिए औसत प्रतिशत 8.0 है। राज्य के ज्यादातर हिस्से में प्रति एकड़ शुद्ध आय 80 रुपये के आसपास ही पाई जाएगी।

अतएव भूमि-कर विधेयक के जो समर्थक यह सोचते हैं कि प्रति एकड़ शुद्ध आय रु० 225 या रु० 250 है, वे ऐसी दुनिया में रहते हैं जो उत्तर प्रदेश के

देहाती क्षेत्रों के जीवन की वास्तविकता से कोसों दूर है।

भूमि हदबन्दी कानून 1960 में लागू किए जाते समय जो 40 एकड़ न्यूनतम क्षेत्र की सीमा निर्धारित की गई थी, वही एक ऐसा तथ्य है जिससे पता चलता है कि राज्य सरकार की दृष्टि में 'तीन परिवारी' जोतों के गठन के लिए कम-से-कम 40 एकड़ की दरकार थी, ताकि उससे सालाना 3,600 रुपये की शुद्ध आय प्राप्त की जा सके। इस तरह पूरे राज्य के लिए प्रति एकड़ रु० 90 की शुद्ध औसत आय निकली और ठीक ही निकली।

यह पता चलेगा कि अगर किसान और उसके परिवार के श्रम को या चुकाई गई मजदूरी को (शहरों में मिलने वाली औद्योगिक या गैर-कृषि क्षेत्र की मजदूरी दरों पर नहीं बल्कि गांव के मजदूरों को चुकाई जाने वाली स्थायी दरों पर ही सही) दृष्टि में रखा जाता है तो मेरठ और मुजफ्फरनगर जिलों में 5 एकड़ से कम वाली जोत पर खेती करना निश्चित रूप से एक घाटे का व्यवसाय है और हमारे 75 से 80 प्रतिशत तक के किसान इस श्रेणी में आते हैं।

जहां तक पशुपालन से होने वाली आय की बात आती है, हम फिर फार्म प्रबन्धन सर्वेक्षण की उपर्युक्त रिपोर्ट की तरफ लौट सकते हैं। फसलों और दुधारू पशुओं, दोनों ही के उत्पादन और लागत के संयुक्त आंकड़ों का वितरण देने के बाद रिपोर्ट में कहा गया है :

> लाभ, परिवार-श्रम की आय और फार्म व्यवसाय की आय संयुक्त आधार पर दोनों नमूनों के (यानी लागत-लेखा और सर्वेक्षण) सभी आकार-समूहों की केवल फसलों से होने वाली आय की अपेक्षा निम्नतर है। ऐसा इस तथ्य के चलते है कि जोतों की सभी आकार-समूहों में दूध के उत्पादन में घाटा उठाना पड़ता है। पारिवारिक श्रम का मूल्य नहीं लिए जाने पर भी सभी जोतों में दूध का उत्पादन घाटे में चलता है।

उत्तर प्रदेश में आज 102 लाख खेतिहर परिवार हैं जिनकी कृषि योग्य औसत जोतभूमि 4.2 एकड़ है। उच्चतम सम्भावित आंकड़ा ही हम रखें तो किसी परिवार को कृषि से होने वाली सालाना कुल आय 1,110 रुपये और शुद्ध आय 512 रुपये होगी। लेकिन कृषि-क्षेत्र की औसत आय का कोई भी आंकड़ा दो कारणों से भ्रामक होगा :

(1) दो तिहाई किसान इतनी भी रकम कमा पाने में समर्थ नहीं, क्योंकि उनमें से प्रत्येक के पास 4.2 एकड़ से कम जोतभूमि है।

(2) एक जैविक प्रक्रिया होने के कारण कृषि को प्राकृतिक संकटों से गुजरना पड़ता है, जैसा कि गैर-कृषि व्यवसायों में नहीं होता। उत्तर प्रदेश के बहुत बड़े भू-भाग पर तकरीबन हर साल बाढ़, सूखा या

किसी और तरह की प्राकृतिक विपदा आती है, जिससे लाखों-लाख खेतिहरों की औसत आय में कमी हो जाती है।

किसानों की दयनीय आर्थिक व्यवस्था का पता हमें प्रति एकड़ शुद्ध आय के ऊपर दिए गए उस निम्नतर आंकड़े से चलता है, जिसकी पुष्टि लखनऊ विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री डॉ० बलजीत सिंह द्वारा खुद या अपनी प्रत्यक्ष निगरानी में किए-कराए गए उत्तर प्रदेश के छह गांवों के सर्वेक्षण से हो चुकी है। सर्वेक्षण के आधार पर तैयार की गई यह तालिका यहां उनकी पुस्तक 'नेक्स्ट स्टेप इन विलेज' (गांव में अगला कदम, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1961) से दी जा रही है :

तालिका-13.9

प्रति परिवार वार्षिक व्यय के आधार पर
नमूना परिवारों का घरेलू खर्च

गांव	रु० 1800 या अधिक	रु० 600-1800 या अधिक	रु० 600 या कम	कुल
लावर (मेरठ)	12	60	40	112
बरहन (आगरा)	3	117	102	222
चौमुहान (मथुरा)	5	74	43	122
इटौंजा (लखनऊ)	6	57	60	123
चौखरा (बस्ती)	5	60	90	155
दुबई (देवरिया)	9	57	46	112
कुल परिवार	40	425	381	846

डॉ० बलजीत सिंह परिणामों का सारांश, इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं :

> "कुल ग्रामीण आबादी का पैंतालीस प्रतिशत 50 रुपये से भी कम मासिक पारिवारिक खर्च पर गुजारा करता है। उन्हें गरीबी की रेखा से नीचे जिन्दगी बसर करने वालों में रखा जा सकता है। कुल आबादी के शेष आधे का मासिक खर्च मोटे-तौर पर रु० 50 से रु० 150 तक है। ये न्यूनतम मानवीय जीवन-स्तर की जरूरतें पूरी कर पाने में समर्थ हो सकते हैं तथा समझ सकते हैं कि कुछ नाम मात्र की सुविधाओं के साथ जीवन यापन कर रहे हैं।"

इन पृष्ठों में चित्रित उत्तर प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों की आर्थिक स्थिति के सही

होने के बारे में जिन्हें सन्देह है, उनकी बोलती बन्द हो जाएगी अगर वे खासतौर से राज्य के पूर्वी जिलों के गांवों में जाएं और कुछ घरों के भीतर जाकर देखें कि लोगों के पास क्या है तथा कैसे वे जीवन-यापन करते हैं। ऐसे बहुत से लोग हैं जिन्हें दोनों वक्त खाना नहीं मिलता और दिन इसी तरह गुजरते जाते हैं।

किसानों पर एक और प्रत्यक्ष कर लादने का प्रस्ताव हमारी नीतियों के साथ एक जबर्दस्त विरोधाभास भी है। स्वाधीनता प्राप्ति के समय से हम छोटे और बड़े किसानों को हर तरह की आर्थिक सहायता प्रदान करते रहे हैं, यह कहते हुए कि एक औसत किसान इस स्थिति में नहीं कि वह संसाधन-सुविधाओं या उन अन्य लाभों के लिए भुगतान कर सके, जिनकी उसे चाह रहती है या जो उसे उपलब्ध कराया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए आज सरकार पक्के कुएं जैसे सिंचाई के साधनों के निर्माण के लिए, औजारों या खास किस्म के उर्वरकों की खरीद के लिए तथा कीटनाशक या पौध-संरक्षण उपायों के प्रावधान आदि के लिए आर्थिक अनुदान देती है। अब या तो शुरू से ही हमारी नीति या अनुदान देने का सिलसिला गलत सोच पर आधारित रहे, या फिर मौजूदा प्रस्ताव पर अच्छी तरह सोचा नहीं गया, इसलिए इसे छोड़ दिया जाना चाहिए। उन सभी की राय में जो गांवों और किसानों को निकट से जानने का दावा करते हैं, यह दूसरी बात ही सही है: भूमि-राजस्व में वृद्धि के प्रस्ताव पर पुर्नविचार की आवश्यकता है।

एक और तरीके से किसानों की नया आर्थिक बोझ वहन करने की क्षमता का आंकलन किया जा सकता है, जैसे कि हमारे आम लोगों के स्वास्थ्य या शारीरिक स्तर में निश्चित रूप से गिरावट आई है। ब्रिटिश शासन के दिनों में सेना में भर्ती के नियमों में यह उल्लेख होता था कि चुने गये व्यक्ति की न्यूनतम ऊंचाई 5'-6", छाती 32"-34" और वजन 125 पौंड हो। यह जानी-मानी बात है कि आज उत्तर प्रदेश में बहुत ही थोड़े ऐसे जवान हैं जो इन अपेक्षाओं को पूरा कर सकते हैं, इसलिए सैनिक मुख्यालय को ऊपर दी गई न्यूनतम योग्यताओं में ऊंचाई में 2 इंच छाती में 1 इंच और वजन में 5 से 10 पौंड की कमी करनी पड़ी। मैं नहीं कह सकता कि इस मामले में दूसरे राज्यों में भी इसी तरह की रियायत दी गई है।

हमने महामारियों की रोकथाम में सफलता पाई जिसके फलस्वरूप आजादी के बाद मृत्यु-दर में फाफी कमी हुई है तथा जन्म-दर में भारी बृद्धि हुई है। अतएव स्वास्थ्य-स्तर में गिरावट की व्याख्या सिर्फ इसी एक धारणा से हो सकती है, यानी पुष्टिकर आहार की कमी। ऐसा प्रतीत होगा कि दो-दो पंचवर्षीय योजनाओं के बावजूद ऊत्तर प्रदेश में प्रतिव्यक्ति पोषक खाद्य पदार्थों की मात्रा नीचे चली गई है। यह साफ है कि या तो हम राज्य में जिस दर से जनसंख्या-वृद्धि हुई, उसी दर से पोषक खाद्य का उत्पादन नहीं कर पाये, अथवा सामाजिक मूल्यों में

परिवर्तन के चलते हमने आहार में किफायत बरती और अपनी बचत को शौक और विलासिता की वस्तुओं में लगाया। दूसरी बात तो अधिक-से-अधिक आबादी के एक छोटे-से हिस्से पर ही सच उतर सकती है।

उत्तर प्रदेश में भूमि कर का बोझ पहले ही लदा है तथा ग्रामीण या किसान कर चुकाने में पीछे नहीं हैं।

यह सच है कि अन्य राज्यों की तुलना में प्रति व्यक्ति कराधान का स्तर उत्तर प्रदेश में काफी कम है, लेकिन हमारे वित्त सचिवालय द्वारा उपलब्ध कराये गये विभिन्न राज्यों के बजटों के आंकड़ों पर आधारित निम्नांकित वक्तव्य दर्शाता है कि प्रभावकारिता का यह नियम इस तथ्य में नहीं कि राज्य में प्रति एकड़ भू-राजस्व कम है। हदबंदी लागू होने से कृषि-आयकर अब देय नहीं रहा, न ही उसकी वसूली की जाती है। फिर भी, वर्ष 1959-60 के दौरान प्रति एकड़ भू-राजस्व और आय-कर दोनों की दरें दर्शाने के लिए एक कॉलम निम्नांकित वक्तव्य में दिया गया है।

यह परिलक्षित होगा कि उत्तर प्रदेश में भू-राजस्व की दर उच्चतम है—उस राज्य से उच्चतर जो बाद में आता है, जैसे कि पश्चिमी बंगाल की दर से यानी 25.0 प्रतिशत से भी अधिक।

राजस्व और आय-कर का दबाव भी केवल दो छोटे राज्यों असम और केरल में उच्चतर है जहां चाय और नारियल के बागान हैं। फिर भी यह परिलक्षित होगा कि सामान्य फसलें देने वाली भूमि से उतनी आय देने की अपेक्षा नहीं की जा सकती और इसीलिए उतनी कर चुकाने की क्षमता भी उसमें नहीं होती जितनी कि उस राज्य की भूमि में जहां चाय और नारियल की पैदावार होती है। निकटवर्ती राज्य पंजाब में (क) सिंचाई की दरें कहीं कम हैं, (ख) प्रति कृषि परिवार औसत जोतभूमि का रकबा कहीं बड़ा है, (ग) प्रति एकड़ उत्पादकता कहीं ज्यादा है, और (घ) भूराजस्व का भार दूसरे राज्यों की अपेक्षा 50 प्रतिशत कम है। यह सब होने के बावजूद पंजाब सरकार ने भू-राजस्व में केवल 25 प्रतिशत वृद्धि की है और वह भी अब तक केवल बड़ी, सम्भवत: 10 एकड़ से ऊपर वाली, जोतों के मामले में।

उत्तर प्रदेश में मुख्यत: दो तरह के किसान हैं, यानी भूमिधर और सीरदार। उनके पास आज क्रमश: 1,56,17,000 और 2,98,71,000 भूमि है (1960-61 के राजस्व खातों के मुताबिक)। कल के जमींदार आज के भूमिधर हैं जिन्हें उनकी खुदकाश्त वाली जमीन के मामले में यह नाम दिया गया है। उन्हें पुरानी दर से ही भू-राजस्व चुकाना होता है जो वे जमींदारी उन्मूलन से पहले चुका रहे थे, अर्थात् रु० 3.00 प्रति एकड़। अनके पास 66 लाख एकड़ या आज के कुल कृषि-क्षेत्र का 14 प्रतिशत है और अपनी जमीनें हस्तांतरित करने का अधिकार

तालिका-13.10

विभिन्न राज्यों में 1959-60 के दौरान भू-कराधान की तुलनात्मक स्थिति

राज्य 1959-60	*कृषि भूमि (करोड़ एकड़ में)	भू-राजस्व (करोड़ रुपये में)	भू-राजस्व की स्थिति (प्रति एकड़ रुपये)	कृषि आयकर (करोड़ रुपये में)	भूमि पर कुल कर: राजस्व का कॉलम-3* आयकर कॉलम-5 (करोड़ रुपये में)	कुल कर की स्थिति (करोड़ रुपये में)
1	2	3	4	5	5	7
उत्तरी क्षेत्र						
1. पंजाब	1.94	4.44	2.29	...	...	...
2. राजस्थान	4.65	7.94	2.18	0.03	7.97	2.19
केन्द्रीय क्षेत्र						
3. मध्य प्रदेश	4.13	9.72	2.35	0.01	9.73	2.35
4. उत्तर प्रदेश	4.47	20.91	4.68	0.88	21.79	4.87

पूर्वी क्षेत्र						
5. आसाम	0.86	2.53	2.94	2.57	5.10	5.93
6. बिहार	2.34	8.31	3.55	0.26	8.57	3.66
7. उड़ीसा	1.73	2.24	1.30	0.03	2.27	1.31
8. पश्चिमी बंगाल	1.46	5.05	3.73	0.73	5.77	3.95
पश्चिमी क्षेत्र						
9. बम्बई	7.25	11.5	1.60	...	...	...
10 मैसूर	2.81	4.30	1.54	0.88	5.18	1.84
दक्षिणी क्षेत्र						
11. आन्ध्र	3.31	11.30	3.41	0.01	11.31	3.41
12. केरल	6.52	1.30	2.50	1.98	3.28	6.30
13. मद्रास	1.75	4.90	2.80	1.54	6.44	3.68

***एग्रीकल्चर सिचुएशन इन इंडिया** से उपलब्ध; 1955-57 में जोत के भीतर आने वाली भूमि (मौजूदा परती क्षेत्रों और विविध वृक्षों और खाड़-झंझाड़ के तहत आने वाली जमीनों समेत)।

उन्हें प्राप्त है। सीरदार पहले के रैय्यत हैं जिन्हें वही पुराना लगान (अब राजस्व) चुकाना होता है जो वे अपने जमींदारों को चुकाते थे। औसतन यह लगान आज रु० 5.75 प्रति एकड़ पड़ता है। इन रैय्यतों को भूमिधार के अधिकार यानी हस्तांतरण के अधिकार और अपने लगानों में 50 प्रतिशत कमी कराने के अधिकार हासिल करने का विकल्प दिया गया था, इसके लिए शर्त यह थी कि सरकारी लगान का दस गुना उन्हें चुकाना होगा। ये जमा रकमें जमींदारी उन्मूलन कोष में जानी थीं। सोचा यह गया था कि इस निधि से जमींदारों को मुआवजा दिया जाएगा तथा जमींदारी उन्मूलन पर होने वाले अन्य खर्च किये जायेंगे। लगभग 90 लाख एकड़ या कुल कृषि-भूमि का 20 प्रतिशत ऐसे भूमिधरों के पास है और प्रति एकड़ औसतन रु० 2.2 लगान वे चुकाते हैं।

यह दिखेगा कि काश्तकार के लगान में की जाने वाली कमी उस रकम 5 प्रतिशत वार्षिक ब्याज के बराबर होती है जो वह सरकार को चुकाता है—उस दर से कम जो सरकार कृषकों को दी जाने वाली तकावी या अन्य ऋणों पर लेती है, इस तरह इस योजना को लागू किये जाने से सरकार को घाटा कतई नहीं होता।

इन किसानों ने अपने लगान की दस गुना रकम, जो वर्ष 1961 में कुल 39,67,000 रुपये थी, एकमुश्त सरकारी खजाने में जमा कर दी होती और आज 66 प्रतिशत भूमि जोतने वाले अपने शेष साथियों की तरह सीरदार ही रहना पसन्द करते—जैसा कि वे कर सकते थे—तो राज्य की वार्षिक राजस्व मांग बढ़कर रु० $\frac{39,67,87,000}{10 \times 2}$ हो जाती। यह रकम चुका दी गई या समझ लिया जाए कि अग्रिम चुका दी गई तो सीधा हिसाब बताएगा कि राज्य में भू-राजस्व प्रति एकड़ रु० 5.12 होता है—"यह आंकड़ा देश में कहीं से भी प्राप्त आंकड़े से ऊंचा है और पास के पश्चिम बंगाल से तो 41.5 प्रतिशत ज्यादा है।"

उत्तर प्रदेश का बजट सन्तुलन भू-राजस्व की वृद्धि में निहित नहीं है, इसकी पुष्टि निम्नांकित वक्तव्य तालिका-13.11 से भी होती है (राज्यों को अनदेखा करते हुए करों में केन्द्र की भागीदारी) :

अगर किसी भी काश्तकार ने भूमिधारी के अधिकार हासिल नहीं किये होते तो उत्तर प्रदेश का भू-राजस्व, जैसा कि पहले देखा जा चुका है, 2,289 लाख रुपये हो जाता और कुल करों में इसका प्रतिशत 41.5 पर पहुंच जाता। यह दिखेगा कि मध्य प्रदेश और राजस्थान जैसे सिर्फ दो ही राज्य ऐसे हैं, जहां भू-राजस्व का कुल राज्य-करों में लगभग वही योगदान है जैसा कि उत्तर प्रदेश में है। "लेकिन जैसा कि वक्तव्य के आखिरी कालम से स्पष्ट है, इन दोनों राज्यों में उत्तर प्रदेश की अपेक्षा प्रति व्यक्ति जोत-क्षेत्र कहीं ज्यादा बड़े हैं।"

तालिका 13.11

राज्य	1959-60 के खातों के अनुसार राज्य के कुल कर (करोड़ रुपयों में)	भू-राजस्व (करोड़ रुपयों में)	राज्य के करों भू-राजस्व का प्रतिशत	1951 की आबादी में दर्शित प्रति व्यक्ति (1956-57 में) वास्तविक क्षेत्र
1. आन्ध्र	39.99	11.30	28.50	0.90
2. असम	13.33	2.53	18.98	0.57
3. बिहार	30.04	8.31	27.66	0.49
4. केरल	17.00	1.30	7.65	0.33
5. मध्य प्रदेश	24.78	9.72	39.22	1.47
6. मद्रास	36.95	4.90	13.29	0.48
7. बम्बई	73.90	11.50	15.56	1.39
8. मैसूर	23.00	4.30	18.69	1.28
9. उड़ीसा	7.53	2.24	29.75	0.95
10. पंजाब	23.95	4.44	18.53	1.12
11. राजस्थान	17.72	7.94	44.80	1.92
12. उत्तर प्रदेश	53.17	20.91	39.33	0.66
13. पश्चिम बंगाल	44.52	5.05	11.32	0.49

भू-राजस्व को एक बहुत ही प्रतिगामी किस्म के कर (या लगान) के रूप में जाना जाता है—एक ऐसा कर जिसका उस अतिरिक्त आय से कोई सम्बन्ध नहीं जो मनुष्य अर्जित कर सकता है, बल्कि यह महज भूमि के स्वामित्व (या दखलकारी अधिकार पर आधारित है और इस तरह तुलनात्मक दृष्टि से (खेतिहर) समुदाय के निर्धनतर तबकों पर भारी पड़ता है। लेकिन, जब तक हमारे लोगों के गैर-कृषि संसाधन पहले विकसित नहीं कर लिये जाते, इसे बस आज ही खत्म नहीं किया जा सकता। मगर हम यदि इसे खत्म नहीं कर सकते तो कम-से-कम हमें यह देखना चाहिए कि इसमें वृद्धि नहीं की जाए; क्योंकि इस कर में वृद्धि का अर्थ होगा हमारी जनता के बीच करों के बोझ की असमानता और भी बढ़ाना। फिर यह भी कि भू-राजस्व की वृद्धि से चूंकि गरीब किसान के जरूरी मदों पर होने वाले खर्च में कटौती होगी, इसलिए उसकी क्षमता में और भी कमी आएगी, और इस तरह आर्थिक विकास के लिए घातक सिद्ध होगी।

जो लोग आय-कर से इस कर की तुलना करना पसन्द करते हैं, क्योंकि दोनों ही प्रत्यक्ष कर हैं, वे तीन तरह से गलतफहमी के शिकार हैं, जैसे :

1. भू-राजस्व ऐसे किसान तक के लिए देय है जो महज एक 'बिस्वा' जमीन का मालिक है, जबकि आय-कर सिर्फ उस व्यक्ति के लिए देय है जो प्रतिवर्ष रु० 3500 से अधिक या रु० 3600 कमाता है।

2. अगर कोई दुकान या फैक्ट्री बन्द हो जाती है तो उसका मालिक उसी दिन से आय-कर चुकाने से मुक्त हो जाता है, जबकि कृषि कानून इस लिहाज से इतना निर्मम है कि भू-राजस्व उन जमीनों तक के लिए देय होता है जो पांच साल की अवधि तक भी परती या बिना जुती पड़ी रहे। ऐसी परती या बिना जुती भूमि उत्तर प्रदेश में हर साल 31 लाख एकड़ तक होती है, जिन पर औसतन बिल्कुल वही भू-राजस्व देय होता है।

3. आय-कर के मामले में धनी लोग न केवल कानूनी 'बचाव के रास्ते' निकाल कर आय-कर के दायरे से बाहर हो जाते हैं बलिक प्रशासकीय अक्षमताओं के जरिए इससे बचे रहते हैं। जिस आय पर कर छिपाया जाता है वह अभी अज्ञात है, लेकिन भारत के केन्द्रीय राजस्व बोर्ड का अन्दाजा है कि मूल्यांकित आय के कम-से-कम 30 प्रतिशत आय पर कर की चोरी होती है और आधे से अधिक राजस्व का नुकसान होता है। इसके विपरीत कृषि क्षेत्र में न कोई बचाव और न ही छिपाप—कुछ भी नहीं हो सकता। जमींदारी उन्मूलन के बाद जारी हमारे अनेक अभियानों के फलस्वरूप आज जमीन का एक-एक टुकड़ा तक राजस्व-खातों मे दर्ज है।

भूमि-कर विधेयक के प्रस्तावक अक्सर यह तर्क देते सुनाई पड़ते हैं कि 'राज्य की' कुल घरेलू आय के लगभग 54 प्रतिशत की प्राप्ति चूंकि कृषि से होती है, इसलिए इस पर अनुपाततः कर तो लगना ही है। मगर यह भुला दिया जाता है कि यह किसी वर्ग या क्षेत्र की कुल आय नहीं है, अथवा इस पर कर लगना चाहिए, बलिक यह एक व्यक्ति की आय है या कहिए कि वह बचत है जो बुनियादी जरूरतें पूरी करने के बाद उसके पास होनी चाहिए ताकि यथासम्भव उचित सुविधाएं उसे उपलब्ध हों। खेती में लगे लोग बड़ी मुश्किल से थोड़ी-सी कमाई कर पाते हैं, लेकिन अपनी विशाल संख्या के कारण वे यानी 74.0 प्रतिशत लोग संयुक्त रूप से कुल आय में 54.0 प्रतिशत का योगदान करते हैं, कल्पना में भी उनसे यह उम्मीद नहीं की जा सकती है या न ही कहा जा सकता है कि वे राज्य के कुल करों में 54.0 प्रतिशत का योगदान करें। इसके विपरीत जो लोग निर्माण उद्योग, वाणिज्य, परिवहन और अन्य सेवाओं में लगे हुए हैं, उनकी वैयक्तिक बचत ज्यादा है और इसीलिए न्यायसंगत तौर पर राज्य के करों में उन्हें राज्य की कुल

आय में शामिल उनकी वर्गगत आय की अपेक्षा कहीं ज्यादा प्रतिशत योगदान करने के लिए कहा जाए—व्यक्तिगत रूप से और सामूहिक रूप से भी।

खबरों के अनुसार मुख्यमन्त्री ने 16 सितम्बर को कानपुर शहर के उत्तरी विधान सभा क्षेत्र के कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं की बी० एन० एस० डी० कालेज हॉल में हुई बैठक को सम्बोधित करते हुए कहा कि "योजना के वित्तीय प्रबन्ध का सारा बोझ नगरवासियों पर लादना ठीक नहीं होगा। अगर तंगहाल क्लर्क या कारखाने के मजदूर से भारी करों का बोझ वहन करने के लिए कहा गया तो गांववासी को भी ऐसे भार-वहन से छूट नहीं मिलनी चाहिए।" शहर में उन्होंने कहा कि "अल्प वेतनभोगी वर्ग अपनी कमाई का बहुत बड़ा भाग वे चीजें जुटाने पर खर्च करता है जो ग्रामीणों को खेतों से मिल जाती हैं। योजना के कार्यान्वयन के बोझ में अपनी भागीदारी कोई भी वर्ग दूसरों पर नहीं डाल सकता। (नेशनल हेराल्ड, लखनऊ, 16 सितम्बर 1962)

अब यह जांच करने की बात है कि क्या सचमुच योजना के वित्तीय प्रबन्ध का सारा बोझ नगरवासियों पर लादा जा रहा था और ग्रामवासियों को इससे छूट मिल रही थी? नीचे दिए गए वक्तव्य तालिका-13.12 में 1960-61 के लेखा परीक्षण खातों के अनुसार राज्य के खजाने में जमा प्रत्येक कर की रकम दर्शित है:

तालिका-13.12

	(हजारों में)
1. बड़ी जोत भूमि कर	रु० 8687
2. भू-राजस्व	रु० 22,8182*
3. राज्य चुंगी कर	रु० 7,5779
4. मोटर वाहनों पर कर	रु० 3,2156
5. सामान्य बिक्री-कर	रु० 11,6989
6. गन्ने पर उप-कर और खरीद-कर	रु० 4,2623
7. स्टाम्प और निबंधन शुल्क	रु० 4,9196
8. मनोरंजन और पणन-कर	रु० 1,5985
9. बिजली शुल्क	रु० 6355
10. मोटर स्पिरिट पर कर	रु० 58,0574

इन करों में से प्रथम दो कुल करों के 40.80 प्रतिशत हैं जो पूरी तरह से

*वार्षिक रु० 1,98,39,000 समेत जा भूमिधरों द्वारा अग्रिम चुका दिए गए हैं (उनकी जमा रकमों पर ब्याज के रूप में जो सरकार को मिलती है)।

कृषकों द्वारा चुकाए जाते हैं तथा अन्तिम तीन यानी 4.64 प्रतिशत तकरीबन पूरा-का-पूरा गैर-कृषक चुकाते हैं। बचे हुए पांच में से सामान्य बिक्री-कर; मोटर-वाहन कर और गन्ने पर उप-कर और खरीद-कर व्यापारी और मोटर या कारखाने के मालिक नहीं चुकाते बल्कि उन्हें उपभोक्ता और प्रयोगकर्ता पर डाल दिया जाता है। ये सारे कर मिलाकर 54.56 प्रतिशत होते हैं और नगरवासियों और ग्रामीणों द्वारा संयुक्त रूप से चुकाए जाते हैं। ग्रामीण और नगरवासी कुल आबादी में क्रमश: 87.15 और 12.85 प्रतिशत होते हैं। यह मानकर चलें कि आखिरी वर्ग के ये पांचों कर ग्रामीणों और शहरी लोगों द्वारा उनकी आय के अनुपात से चुकाए जाते हैं यानी 1 से 3.7, तो पता चलेगा कि इनका भार 65.84 प्रतिशत भार (जो राज्य-करों के कुल भार का 32.92 होता है) ग्रामीण क्षेत्र पर पड़ता है और शेष पूरे शहरी क्षेत्र पर। "इसलिए ग्रामीण या कृषक सारे राज्य-करों का (40.8 + 35.92 =) 76.72 प्रतिशत या तीन चौथाई से ज्यादा चुकाता है।" यह कहना पुनरावृत्ति होगी कि ग्रामीण लोगों की, जो शहरी लोगों की आय का मुश्किल से 29 प्रतिशत कमा पाते हैं, बचत बहुत ही कम या कुछ भी नहीं है।

जहां तक राज्य कोषों के उपयोग की बात है, इसकी चर्चा यद्यपि कोई न भी करना चाहे तो भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि राज्य कोषों का उपयोग इस तरह किया जाता है कि शहरी लोगों को वे सब सुविधाएं सुलभ हों जो एक आदमी को चाहिए, जैसे बिजली की रोशनी, सड़कें और रेल सेवा, डाक-तार सुविधाएं, सर्वोच्च शिक्षा के अवसर, आधुनिक चिकित्सा सुविधाएं, खेल-कूद और मनोरंजन आदि, जबकि गांव के लोगों को ये सुविधाएं इतनी आसानी से या बिलकुल ही नहीं मिलतीं। इन तथ्यों की रोशनी में हम सबके लिए यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि शहर के 'क्लर्क और कारखानों के कामगार' आज 'तंगहाल' हैं और शिकायत की स्थिति में हैं या गांव का औसत 'किसान'!

नया कर लादना जरूरी नहीं

प्रस्तावित जोत-भूमि-कर की उगाही कतई जरूरी नहीं है, क्योंकि :

(क) अच्छे-खासे वांछित परिणाम बिना अतिरिक्त संसाधनों की उगाही या निवेश के प्राप्त किए जा सकते हैं; और

(ख) आवश्यक संसाधन पहले से मौजूद हैं।

ईमानदारी और सूझबूझ से उपयोग में लाया गया एक रुपया बिना विचारे खर्च किए गए दो रुपयों की अपेक्षा अधिक लम्बे समय तक चलेगा। लेकिन दृढ़ता और सूझबूझ वास्तव में दो अभाव हैं—आज हमारे प्रशासन को इन्हीं दो गुणों की जरूरत है। लेखा परीक्षक की रिपोर्ट (1961-62) के अनुसार मार्च 1961 में

समाप्त होने वाली अवधि में 53.79 करोड़ रुपये मूल्य की अंकेक्षण-पुस्तिकाओं में दर्ज 60,411 आपत्तियां 1 जुलाई 1961 को बकाया थीं। कुल मिलाकर 12.54 करोड़ रुपये के उपयोग में आने के प्रमाण-पत्र लेखा-परीक्षक कार्यालय को सौंपे नहीं गए थे। गबन, बेकार और गैर-जरूरी खर्चे तथा न वसूल होने वाले बकायों के चलते ट्रेजरी पर 2.35 करोड़ रुपये का ऋण चढ़ गया था।

हमारी कार्य-प्रणाली पर शायद कोई टिप्पणी करने की जरूरत नहीं है। हम आलसी, अक्षम और भ्रष्टाचारी पर अपेक्षित रूप से भौंहें नहीं चढ़ाते। दोषी को दण्ड देने के संकल्प और राज्यव्यापी नौकरशाही की विराट मशीनरी पर पैनी नजर रखने का हमारे भीतर अभाव है, इसलिए शायद हमें जनता से यह कहने का बहुत ही कम या बिलकुल ही अधिकार नहीं है।

यह धारणा बेबुनियाद है कि बड़े परिणाम लाने के लिए बड़े पैमाने पर खर्च करना जरूरी है। ऐसी योजनाएं निर्मित की जा सकती हैं जो कम लागत की हों मगर लाभ ज्यादा दें। उदाहरण के लिए जमींदारी के उन्मूलन ने कृषक समुदाय के आत्मसम्मान की बहाली और कठोर श्रम के लिए प्रोत्साहन के रूप में जिन शक्तियों को मुक्त किया उनका उत्पादन की वृद्धि में बहुत बड़ा योगदान रहा, फिर भी हमें उसके लिए कोई कीमत चुकानी नहीं पड़ी। इसी तरह, भूमि उपयोग कानून लागू किए जाने और तराई क्षेत्र में पुनर्वास (उपनिवेश नहीं) की योजना से लाखों-लाख एकड़ जमीन का पुनरुद्धार हुआ और सरकार को कोई लागत भी चुकानी नहीं पड़ी। जोतों की हदबन्दी भी इस तरह का एक और बड़ा कदम है जिससे उल्लेखनीय परिणाम सामने आए हैं। इसकी क्षमता की संभावनाओं का यदि पूरा-पूरा लाभ लिया जाए तो और भी बेहतर परिणाम सामने आ सकते हैं। यही नहीं कि इन तीनों उपायों में राज्य की कोई लागत नहीं लगी; इनसे सुनिश्चित प्राप्तियों के अर्थ में वास्तविक आर्थिक लाभ भी हुए हैं। इस तरह यदि हम सिर्फ अपेक्षित मार्ग का अनुसरण करें तो कमोवेश ऊपर वर्णित ढंग की योजनाएं एक-एक कर अच्छे परिणाम सामने लाएंगी। बड़ी और भारी-भरकम योजनाओं की जगह छोटी योजनाएं लेंगी जिनकी कोई लागत नहीं होगी, लेकिन परिणाम जो स्थायी देंगी। उदाहरण के लिए, दो पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान नहरों नलकूपों और जलाशयों के निर्माण में हमने जो रकम लगाई, उसी से मौटे-तौर पर दुगने क्षेत्र के लिए सिंचाई सुविधाएं उपलब्ध हो जातीं, अगर हमने परशियन चक्के वाले पक्के कुएं निर्मित किए होते और जल की निकासी पर ध्यान दिया होता। इसके विपरीत बने-बनाए कुएं, तालाब और अन्य जल स्रोतों को हमने वेकार हो जाने दिया जिसके फलस्वरूप इन स्रोतों से सिंचित क्षेत्र में, पचास वाले दशक के दौरान 4.0 लाख एकड़ से अधिक की कमी आ गयी। योजनाएं जब हमने शुरू कीं उससे पहले सिंचाई विभाग को प्रतिवर्ष 1.75 करोड़

रुपये की शुद्ध आय होती थी, 1960-61 में उसको उतनी ही रकम का वास्तविक घाटा हुआ। इस बारे में कि गरीब देश या राज्य की अर्थव्यवस्था को कैसे नया रूप दिया जाए या इसके संसाधनों का कैसे रख-रखाव किया जाए, हमारे लिए शायद यह बेहतर होगा कि हम पीछे पलटकर गांधीजी के वचनों और एक-दो लिखित पन्नों पर गौर करें।

उत्पादन के लिए लागत जरूरी है, लेकिन अपेक्षित मानवीय गुण उससे कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। जब तक हमारे लोग समुचित सामाजिक और आर्थिक नजरिया नहीं अपनाएंगे, तमाम भारी-भारी निवेश और खर्च बेकार जाएंगे, कम-से-कम वैसे नतीजे नहीं देंगे जैसे किसी दूसरे देश या अपने ही पड़ोसी राज्य पंजाब में देंगे। हमारे लोग घातक नजरिए के शिकार हैं और हमने उन्हें यह सिखाने के लिए कुछ नहीं किया है कि कैसे वे उससे बाहर निकलें। अपने रोग के निदान का अभी तक कोई प्रयास नहीं किया है, शायद यही कारण है कि उत्तर प्रदेश के लोग क्यों केंचुल में कैद हैं। हमारी जनता की मानसिकता को नया रूप देने के लिए एक व्यापक शैक्षिक प्रयास और अभियान शुरू किया जाना है, जिसमें सभी उपलब्ध सरकारी और गैर-सरकारी एजेंसियां शरीक हों।

जब तक देहात की जनता सजग नहीं होती, हमारी प्रशासनिक मशीनरी का नजरिया ग्रामोन्मुखी नहीं होता और सरकारी कर्मचारी मिशन भावना से अभिप्रेरित नहीं होते, तब तक कुछ भी नहीं किया जा सकता—कोई भी नाम लेने लायक आर्थिक विकास नहीं हो सकता, भारी कराधान और बेतहाशा खर्च के बावजूद।

जहां तक वित्तीय संसाधनों की बात है, या जो आज भी आवश्यक हैं, कई रास्ते खुले हुए हैं :

(क) योजना आयोग ने निकाय के रूप में और अलग-अलग भी हमें आश्वस्त किया कि जहां तक केन्द्रीय सहायता का सम्बन्ध है, उसमें कटौती नहीं की जाएगी। फिर भी खास तौर से केन्द्रीय वित्त मंत्री की गैर-हाजिरी के कारण वे यह आश्वासन लिखित रूप में नहीं दे सके। अवश्य ही मुनासिब तौर पर उन्होंने हमसे यह अपेक्षा की कि उपयुक्त रकम की उगाही के लिए हम भरपूर प्रयास करें। उन्होंने स्पष्ट किया कि वे किसी खास कर पर बल देते हैं या यही चिंता करते हैं कि आवश्यक रकम जुटाने के लिए हम क्या करते हैं। लेकिन अगर फिर भी हम लक्ष्य का अपना भाग पूरा नहीं कर पाते हैं तो निश्चित रूप से वे हमारी मदद के लिए आएंगे।

(ख) लखनऊ में 23-25 जुलाई को आयोजित वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारियों के सम्मेलन का विचार था कि 191 करोड़ रुपये के बजट में 2.5 प्रतिशत की दर से 5 करोड़ रुपये की किफायत आसानी से प्रभावी हो सकती है।

फिर भी मुख्यमन्त्री ने अपने 26 जुलाई के पत्र मे, मुझे सम्बोधित करते हुए यह मत व्यक्त किया कि इस तरह की किफायत से 'रोजगार पर रोक' लगेगी। अब यह कठिन है कि इसे सही नजरिया कहें। पहले तो हमारे दिमाग में यह बात साफ होनी चाहिए कि वेतन वाली नौकरियों की संख्या कितनी भी गुना वृद्धि होने से रोजगार की समस्या में इंच मात्र भी फर्क नहीं आने वाला है। दूसरे, "सरकार द्वारा नियुक्त कर्मचारियों के विशाल समूह में, जो 1945-46 के कर्मचारी-समूह से तिगुना बड़ा है, लगभग एक तिहाई के पास आज एक पूरे दिन का काम नहीं है।" तीसरे, मौजूदा कर्मचारी वृन्द की छंटनी किए बगैर काफी कुछ किफायत बरती जा सकती है : चौथे, हम एकबारगी यह निर्णय ले सकते हैं कि जहां तक सम्भव हो, बाहर से कोई भरती नहीं करेंगे बल्कि भविष्य में उन्हीं कर्मचारियों को काम पर लगाने तक सीमित रहेंगे जो पहले से नियुक्त तो हैं, मगर अभी जिन्हें हम फालतू समझते हैं। पांचवें, फिर भी अगर जरूरी हो तो हमें छंटनी करने से हिचकिचाना नहीं चाहिए। कुछ हजार व्यक्तियों के हित से सार्वजनिक हित ऊपर होना चाहिए।

अपने उस पत्र में जिसका ऊपर जिक्र हो चुका है, मुख्यमन्त्री कहे बिना नहीं रहे कि "वह उन लोगों में नहीं हैं जो झूठी किफायतसारी की बात करते हैं, क्योंकि विकासशील देश में अनावश्यक व्यय की अपेक्षा झूठी किफायत ज्यादा नुकसानदेह है।" झूठी किफायत कोई नहीं चाहता, लेकिन ऐसा लगता है कि हमारे प्रशासन में वास्तविक किफायतसारी के लिए कोई जगह नहीं है। क्योंकि ऐसा अगर होता तो मुख्यमन्त्री निस्सन्देह इसे अभी लागू कर देते ! इसके विपरीत किसी का इस निष्कर्ष पर पहुंचना गलत नहीं होगा कि मुख्यमन्त्री चूंकि 'अनावश्यक व्यय' को बर्दाश्त करने के लिए तैयार हैं, इसलिए वह नहीं सोच पाते कि किफायतसारी में सचमुच कोई अच्छाई है या इसके अच्छे परिणाम हो सकते हैं।

"नौकरशाही के निरंकुश होने का खतरा हर जगह रहता है। यह जनता के प्रतिनिधियों का कर्तव्य है कि वे इस प्रवृत्ति पर रोक लगाएं। फिर भी उत्तर-प्रदेश में यह विडम्बना ही है कि मामला बिलकुल उल्टा है। जबकि हमारे अफसर किफायतसारी का सुझाव देते हैं, सरकार के हम सदस्य हैं कि नए कराधान पर तुले हुए हैं।"

यह अवश्य ही दर्ज किया जाना है कि उत्तर प्रदेश में जिस तरह घोंघे की गति से विकास हो रहा है, उससे योजनाएं जनता के लिए एक भारी बोझ बनकर रह जाएंगी। उत्तर प्रदेश की तृतीय पंचवर्षीय योजना कहती है, "दूसरी योजना के विकासात्मक व्यय के बाद उसके रख-रखाव का व्यय तीसरी योजना में अंदाजन 70.68 करोड़ रुपये होगा। द्वितीय योजना के अन्तिम वर्ष 1960-61 के लिए बजट 117.58 करोड़ रुपये का था। आने वाले वर्षों में इसी व्यय को न केवल

दुहराने की जरूरत पड़ेगी। बल्कि उसमें वृद्धि के लिए समुचित रकम की व्यवस्था भी करनी पड़ेगी।" राज्य की पहली दो योजनाओं में 394 करोड़ रुपये लगे थे। तीसरी योजना तकरीबन 500 करोड़ रुपये की है। वर्तमान दर से तीसरी योजना के विकासात्मक व्यय से सम्भावना है कि रख-रखाव का व्यय और आ जुड़ेगा जो तीसरी योजना की अवधि में कुल मिलाकर (रु० 90 करोड़ + रु० 70.68 करोड़) ये 160.68 करोड़ रुपये या औसतन वार्षिक 32.136 करोड़ रुपये होगा। "जबकि 1960-61 में राज्य की कुल आय सभी स्रोतों से (भारत सरकार से प्राप्त अनुदानों और सबसिडियों को छोड़कर) सिर्फ 1,34,16,00,000 रुपये थी।" 191 करोड़ रुपये के 1962-63 के बजट में से 110 करोड़ रुपये या 57.5 प्रतिशत तो वेतन, भत्तों, मानद राशि, आकस्मिक फुटकर व्यय, ऋण सुविधाओं और पेंशन पर ही खर्च हो जाएंगे। भवनों के निर्माण और मरम्मत के 7.8 करोड़ रुपये अलग रखे गए है। इसकी पूरी सम्भावना है कि "केन्द्र की ओर से असीमित सहायता का आश्वासन देने की उदारता नहीं दिखाई गई तो" आने वाली राज्य सरकारें आय-व्यय में संतुलन नहीं रख पाएंगी। कृतज्ञता के साथ याद करने के बजाए आगामी पीढ़ियां हमारी अदूरदर्शिता के लिए हमें कोसेंगी।

(3) हमारी कर-निर्धारण की प्रक्रिया को सख्त होना है। अगर सिर्फ कानूनी खामियां दूर कर दी जाएं और कठोरता से प्रशासकीय अक्षमता को हटाया जाए तो मौजूदा दरों पर कराधान से ही कई करोड़ रुपये ज्यादा की उगाही हो सकती है।

(4) केवल कर-निर्धारण एजेंसियों को ही व्यवस्थित नहीं किया जाना है, बल्कि कर-संग्रह करने वाली मशीनरी को भी अधिक सक्षम बनाया जाना है। कितना कर छिपाया और चुकाया जाता है, यह एक अनुमान की बात हो सकती है, लेकिन इस पर विवाद नहीं हो सकता कि हमारे समाज के तुलनात्मक दृष्टि से खुशहाल तबके पर करों और ऋणों की लगभग 17.5 से 20.0 करोड़ रुपये तक की रकम आज भी बकाया है—जिनकी उगाही या वसूली होनी है। इस विशाल रकम में दो मदें ऐसी हैं जिनकी वसूली में सामान्यत: कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए, जैसे चीनी मिलों के मालिकों से गन्ना उप-कर और खरीद-कर की बकाया रकम लगभग 7.5 करोड़ रुपये (विचाराधीन याचिकाओं से सम्बन्धित एक करोड़ रुपये को छोड़कर) तथा बिक्री-कर के (6.5 करोड़ रुपये में से) 4.0 करोड़ रुपये की रकम जिसमें 'कच्चा आढ़तियों' पर बकाया 85 लाख रुपये की रकम शामिल है, जो कृषि उत्पादनों के उत्पादक-विक्रेता यानी किसानों से संभवत: गैर-कानूनी ढंग से वे वसूल चुके हैं। ये खुशहाल बकाएदार ऐसा कोई ठोस कारण नहीं देखते कि रकम चुकाने में जल्दबाजी करें। "बिक्री-कर के बकाए पर कोई

ब्याज नहीं होता, और गन्ना उप-कर तथा खरीद-कर के बकाए पर ब्याज रु० 6.0 प्रति सैकड़ा प्रति वर्ष होता है।" बैंक इससे कहीं ऊंची दर पर ब्याज लेते हैं, और निवेश सभी मदों में ऊंचे लाभ देते हैं। इसलिए किसी कर के निर्धारण और वसूली में सरकार की विफलता के चलते राज्य के खजाने में जाने के बजाए यह एक बेईमान विक्रेता या बकाएदार करदाता के अतिरिक्त लाभ का एक जरिया हो जाता है।

मिलों के विरुद्ध गन्ना उप-कर और खरीद-कर की बकाया रकम वार्षिक आकलन का औसतन 200 प्रतिशत है। फिर भी, भू-राजस्व के बकाये की रकम मामूली होने पर भी कृषक जहां नियमित रूप से हवालात और जेल में भेज दिए जाते हैं और उनकी जमीन बगैर सोचे-समझे नीलाम कर दी जाती है, वहीं राज्य में एक भी ऐसा मिल-मालिक नहीं जिसे कठघरे में खड़ा किया गया हो या उसकी मिल नीलामी पर चढ़ा दी गई हो। इन बड़े लोगों के विरुद्ध कार्रवाई करने में हम हिचकिचाते हैं, क्योंकि वे यह छाप छोड़ने में कामयाब हुए हैं कि यदि हमने उनके विरुद्ध बल प्रयोग का तरीका अपनाया तो वे मिल-कारखाने बन्द कर सकते हैं और इससे जनहित की क्षति हो सकती है। इस निष्कर्ष से सहमत होना कठिन है अगर कारखाने वास्तव में कर चुकाने में असमर्थ होते या घाटे में चल रहे होते तो उनके मालिक दूसरे ही दिन उन्हें बन्द कर देते, सरकारी प्रबोधनों और अपीलों के बावजूद। दूसरी तरफ, वे अपने बकाये झटपट चुका देते, अगर उन्हें यह पता होता कि सरकार बहुत सख्ती से पेश आने वाली है। बकाये के एवज में सरकार खुद कारखाने खरीद सकती है या कम-से-कम अधिकृत नियंत्रक नियुक्त कर सकती है। नियंत्रकों के मामले में हमारा अनुभव काफी संतोषप्रद रहा है। वस्तुतः मिल-कारखानों के मालिक ऐसी स्थिति आने ही नहीं देंगे और यदि आने भी दें तो सरकार और कृषक वर्ग दोनों ही लाभ में रहेंगे।

फिर भी मुझे डर है कि इस शीर्षक के अन्तर्गत या किसी अन्य स्रोत से मिले मेरे सुझावों का कुछ भी असर नहीं होगा। क्योंकि, अपने 26 जुलाई के उल्लेखित पत्र में मुख्यमंत्री ने एक यह सिद्धांत बताया है, कि "ज्यादा प्रभावी कर-वसूली शायद ही कभी नये करों का विकल्प वहां हो सकती है, जहां बेरोजगारी से निपटने के लिए प्रचुर राजस्व की उगाही की जानी हो।' हालांकि इसमें नरमी लाते हुए कहते हैं, "बड़े लोगों से सरकारी बकायों की वसूली नहीं होने पर सरकार को कहीं-न-कहीं से बदनामी मिलेगी।"

(5) मुख्यतः निर्माण-सामग्री का अभाव और कल्पनारहित नियोजन के कारण हम किसी भी वर्ष के दौरान वह रुपया खर्च नहीं कर पाते जो बजट उपलब्ध करता है। ऑडिट रिपोर्ट (1962) कहती है, "राज्य के खातों से पता चला है कि दूसरी पंचवर्षीय योजना के प्रत्येक वर्ष में राजस्व फालतू रहा जबकि बजट

पेश करते समय प्रत्येक वर्ष में घाटे का अनुमान लगाया गया था।" (पृ०-4)। ऐसी अन्य रकमें हैं जो ऑडिट की नजर में आने से तो बची रहीं, मगर जिनका उपयोग नहीं किया गया। प्रत्येक वित्तीय वर्ष के आखिरी महीने में व्यय के लक्ष्यों तक (वास्तविक उपलब्धि के नहीं) पहुंचने की सरगर्मी दिखाई जाती है। इन रकमों का एक हिस्सा जिसे किसी भी तरह से खर्च नहीं किया जा सकता, उसे निजी खातों या अन्य जमा-खातों में स्थानान्तरित कर दिया जाता है। इस प्रकार हर वर्ष करोड़ों रुपये बचा लिए जाते हैं या बिना खर्च किए रह जाते हैं, कारण चाहे जो भी रहें। अतः जैसी कि सर टी० टी० कृष्णमाचारी की सलाह है, अपने संसाधनों को हम अगर सिर्फ एक या दो वर्ष के लिए नियोजित करें तो पता चलेगा कि इस वर्ष जोतभूमि-कर के अभाव में हमारी योजना क्षतिग्रस्त नहीं होने वाली है।

(6) सिंचाई विभाग 7 करोड़ रुपये (हो सकता है इससे भी बड़ी रकम) की योजनाएं छोड़ चुका है, क्योंकि वे अनार्थिक या अव्यवहार्य थीं। दूसरे विभागों की योजनाओं की गहरी छानबीन करने पर इसी तरह की योजनाएं मिलेंगी जो कम महत्त्व की हैं या बिल्कुल ही महत्त्व की नहीं हैं और जनता को तुरन्त लाभ पहुंचाने वाली नहीं हैं तथा इसीलिए उन्हें आसानी से छोड़ा जा सकता है। यह तर्क बहुत असरदार नहीं है कि हमारा राज्य बहुत-से मामलों में पिछड़ा है और इस तरह से निकाले गये धन को उपयोगी ढंग से दूसरे कामों में लगाया जा सकता है। यही तर्क अगर मान्य हो तो हम चूंकि पश्चिम के विकसित देशों से इस कदर और इतनी दिशाओं में पिछड़े हुए हैं, इसलिए राज्य की मौजूदा तीसरी पंचवर्षीय योजना से आकार-प्रकार में पांच गुना बड़ी योजना भी हमारे लिए छोटी ही प्रतीत होगी। तो फिर हम महज 500 करोड़ रुपये के स्थान पर 2,500 करोड़ रुपये की तरफ नजर क्यों नहीं दौड़ाते ?' बस, इस कारण कि हमारे मानवीय और भौतिक संसाधन अपर्याप्त हैं। अतः अगर नये वित्तीय संसाधन जुटाना हमें मुश्किल लगता है तो विवेकपूर्ण नीति यह होगी कि दूसरी तरह से बचाए या मुक्त किए गए धन को नई परियोजनाओं और योजनाओं की तरफ मोड़ने के बजाए उसे उपयोग में लाया जाए। कितने ही वांछित कार्य हैं जो किये नहीं गए हैं, लेकिन हमारी आकांक्षाओं या क्षमता का परिचालन हमारे साधन करेंगे—पूंजी के लिए आवश्यक रकम जुटाने की हमारी खुद की क्षमता।

(7) मुख्यमंत्री को सौंपे गए अपने 2 जुलाई के नोट में मैंने सुझाव दिया था कि अगर जरूरी हो तो हम मद्यनिषेध तक को खत्म कर सकते हैं जो राज्य के 51 में से सिर्फ 11 जिलों में पिछले लगभग 15 वर्षों से लागू है। कांग्रेसी होने के नाते हम सभी लोग पूर्ण मद्यनिषेध के पक्ष में हैं, लेकिन यह अकेले कानूनी ताकत के जरिए लागू नहीं हो सकता। जब तक शक्तिशाली जनभावना या नैतिक

आबोहवा अनुकूल नहीं होती, तब तक किसी भी प्रशासन से यह उम्मीद नहीं की जा सकती है कि वह एक ऐसी वस्तु के सेवन पर नियन्त्रण रखे जिसका निर्माण देहाती क्षेत्र के तकरीबन हर घर में हो रहा हो। ऐसी आबोहवा तैयार करने में हम निश्चित रूप से सफल नहीं हुए हैं। इसके विपरीत, हम अगर ठीक से चारों तरफ देखें तो हम पाएंगे कि राज्य सरकार के मुख्यालय लखनऊ तक में हमने मद्यनिषेध के विपरीत वातावरण के निर्माण में मदद ही पहुंचाई है। नतीजा यह है कि हमारे मद्यनिषेध कानून का पालन इसे सिर्फ तोड़कर किया जाता है और जिस कानून का पालन नहीं हो सकता या नहीं होता हो, वह लोगों के मन में सिर्फ अनादर का भाव ही पैदा कर सकता है। मद्यनिषेध वाले क्षेत्रों में स्प्रिट और टिंचर जैसे स्वास्थ्य के लिए खतरनाक द्रव्यों का इस्तेमाल और साथ-साथ पुलिस और प्रर्वतन अधिकारियों में व्याप्त भ्रष्टाचार बढ़ते ही रहे हैं। दूसरी तरफ वर्तमान नीति को तिलांजलि देने पर राज्य को 3.5 करोड़ रुपये की रकम मिलेगी। आन्ध्र प्रदेश, पंजाब और पश्चिम बंगाल के राजस्व में काफी बड़ा भाग आबकारी की आय का होता है, जिन्होंने आज तक मद्यनिषेध लागू किए जाने को व्यावहारिक नहीं पाया है।

(8) हम अल्प बचत अभियान को तेज कर सकते हैं और इसे जीवंत आंदोलन का रूप दे सकते हैं। फिर भी अगर जरूरी हो तो देशव्यापी बाजार से या स्थानीय अथवा क्षेत्रीय योजनाओं के लिए तुरन्त लाभान्वित होने वाले लोगों से और भी ऋण पाने का प्रयास कर सकते हैं, जैसा कि चम्बल परियोजना के लिए मध्य प्रदेश में किया गया।

(9) यह मानकर चलें कि किसानों की आर्थिक दशा में पिछले 15 वर्षों के दौरान काफी हद तक सुधार हुआ है और उनकी बढ़ी हुई आय का एक हिस्सा राज्य के विकास में लगाया जाना है, तो मेरी विनम्र राय में यह कहीं दूरदर्शिता-पूर्ण नीति होगी कि सोच-विचार कर कोई अप्रत्यक्ष कर लगाया जाए या मौजूदा दरों में वृद्धि की जाए। जब तक जनता की जेब में क्रय-शक्ति नहीं होगी, तब तक उद्योग नहीं खड़े होंगे और परिवहन और वाणिज्य समृद्ध नहीं होंगे; न ही उत्तर प्रदेश में अन्य गैर-कृषि सेवाएं विकसित होंगी। अगर खेतिहर की जेब में फालतू रुपया है तो उससे वह गैर-कृषि सामान या सेवाएं खरीदेगा—जिसकी शृंखलाबद्ध प्रतिक्रिया होगी और फलस्वरूप राज्य को उस आय से ज्यादा बड़ी आय होगी जो सरकार द्वारा भू-राजस्व के रूप में उस रुपये को सीधे अपनी झोली में ले लेने से हो सकती है।

राजनीतिक दृष्टि से हानिकारक उपाय

यह सिर्फ पिछले वर्ष की बात है कि राज्य सरकार ने सिंचाई शुल्क पर प्रति

रुपया तीन आने की छूट वापस ले ली, जो किसानों को 1955 में दी गयी थी। इस वापसी के दो अर्थ हैं : 1. किसानों के सालाना आर्थिक बोझ पर 1.25 करोड़ रुपये की एक और रकम डाल दी गई है और 2. उत्तर प्रदेश में अब सिंचाई की दरें पश्चिमी सीमान्त के उस पार यानी साथ लगे पंजाब राज्य में प्रचलित दरों से ठीक दो गुनी हैं।

उत्तर प्रदेश में किसानों का प्रतिशत भारत के किसी भी राज्य से ज्यादा है, अर्थात् 67.45 और देहाती मतदाताओं में वे 77 प्रतिशत हैं—महज 50 प्रतिशत नहीं कि जैसा कि विधेयक को सासने वाले समझते हैं। इसलिए इन लाखों-लाख लोगों की जेब तक पहुंचने के क्रम में कोई कदम उठाने से पहले हमें हजार बार सोचना चाहिए, क्योंकि ये आज भी यह देख हताश हैं कि पिछले 15 सालों के दौरान इनकी हालत में कोई तरक्की नहीं हुई। इस प्रस्तावित भू-कर वृद्धि से कृषक समुदाय की मनोभावना कांग्रेस संगठन के प्रति उसी हद तक प्रतिकूल हो जाएगी जिस हद तक वह जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार कानून से अनुकूल हुई थी। जो मित्रगण विरोधी नजरिया रखते हैं, उन्हें ये तर्क जोरदार नहीं लगेंगे, लेकिन इस पर कोई विवाद नहीं हो सकता कि इस उपाय से कांग्रेस का राजनीतिक भविष्य बुरी तरह प्रभावित होगा और उसमें सुधार सम्भव नहीं होगा। काश ! दीवार पर लिखी इबारत हम पढ़ पाते। यह बात और है यदि कांग्रेस समय के साथ प्रभावहीन हो जाती है या अपनी ढेर सारी गलतियों या गलत नीतियों के चलते चुनावों में हार जाती है, लेकिन इस उपाय को लागू करना एक राजनैतिक 'हाराकीरी' या पूरी तरह आंख खोले किसी धधकते गड्ढे में कूद जाने जैसा होगा।

जनता के साथ छल

जमींदारी उन्मूलन कोष अभियान (1949-51) के दौरान, जिसके बाद ही 30 जून 1952 को जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार कानून लागू हुआ था, "हर जिले में तकरीबन सैकड़ों या पूरे राज्य भर में 10,000 से अधिक सभाएं आयोजित हुई थीं और उन्हें मंडल कार्यकर्ताओं से लेकर मुख्यमंत्री तक सभी कांग्रेसियों ने सम्बोधित किया था।" रैय्यत लोग इस आश्वासन पर भूमिधर बनने के लिए उत्साहित थे कि अगले चालीस वर्षों तक उनके लगान आधे रहेंगे। इस आश्वासन को कानून की किताब में दर्ज किया गया। राज्य मुख्यालयों से प्रचार अभियान आयोजित किया गया तथा राज्य और जिला दोनों स्तरों पर अखबारों में सैकड़ों लेख लिखे गए। रैय्यतों को भूमिधर होने के लिए सरकार द्वारा सभी सम्भव सुविधाएं और प्रलोभन दिए गए तथा डिवीजनल कमिश्नर से लेकर पटवारी तक सभी अधिकारियों ने अभियान को आगे बढ़ाने का कार्य

किया।

अब प्रस्ताव यह है कि इस आश्वासन को इस आधार पर वापस ले लिया जाए कि समय बदल गया है और योजना के लिए वित्तीय संसाधन जुटाना अत्यावश्यक हो गया है। शायद इससे बड़ी भूल सम्भवत: नहीं हो सकती। राजनीतिक दल द्वारा जनता को किए गए पवित्र वादे यों ही एक तरफ सरकाए नहीं जा सकते। लोकतंत्र में आमतौर पर सरकार द्वारा दिए गए आश्वासनों को, खासकर जिनको लेकर लोग पहले से ही सक्रिय हों, परवर्ती सरकारें पूरा करती हैं, भिन्न पार्टी या पार्टियों के सदस्य उनमें हों तब भी। ऐसा नहीं हो तो भ्रम-ही-भ्रम फैलेगा और जनता यह नहीं समझ पाएगी कि वह निर्मित कानूनों और एक खास सरकार द्वारा दिए गए आश्वासनों के बीच कहां खड़ी है। "यहां तो ऐसा संयोग है कि वही राजनीतिक दल सत्ता में है जिसने आश्वासन दिया था, और वे ही लोग इसे चला रहे हैं जो देहातों में घूम-घूमकर भाषण दिया करते थे।"

नैतिक दायित्व के अलावा भूमिधारी के अधिकार का अर्जन एक तरह का अनुबंध भी है। जहां तक भूमिधरों के उस हिस्से की बात है जो पूर्व-जमींदारों का है, उनके लिए यह एक तरह का मुआवजा ही था। एक आश्वासन जो उन्हें अपने मालिकाना अधिकार सौंपने के एवज में मिला था—यह आश्वासन कि खेतीबारी के लिए अपनी जमीनों पर उनका कब्जा बना रहेगा, अगले चालीस वर्षों तक उसी पुरानी दर के राजस्व पर यानी रु० 3.00 प्रति एकड़ की दर से (तालिका-12.10 दिखाएगी कि उत्तर प्रदेश को छोड़कर अन्य 12 राज्यों में से 9 राज्यों की औसत दर की अपेक्षा यह दर भी ऊंची थी)। जहां तक दूसरे हिस्से की बात है यानी पूर्व रैय्यतों की, यह आश्वासन इस बात को दृष्टि में रखते हुए दिया गया था कि उन्हें सरकारी खाते में बड़ी कठिनाई से नकद भुगतान करना पड़ा था।

ऐतिहासिक उदाहरण का उल्लेख करें तो यह बिहार और बंगाल के छोटे राजाओं और बड़े जमींदारों के अधिकारों की उस कटौती पर किए गए विचार का ही एक हिस्सा है जिसकी घोषणा करते हुए लार्ड कार्नवालिस ने कहा था कि वे अपनी जमीनों पर मौजूदा राजस्व दरों से ही स्थायी तौर पर भुगतान किया करेंगे। वे दरें महज कुछ आने प्रति एकड़ थीं। बाद में समय बहुत तेजी से बदला; कृषि मूल्य बढ़े और ब्रिटिश हुकूमत की जरूरतें भी कई गुना बढ़ीं। फिर भी अपने वादे पर वे अंत तक टिके रहे, यानी 15 अगस्त 1947 तक, जब वे भारत छोड़कर चले गये।

लार्ड कार्नवालिस के उल्लेख पर भौंहें तन जाना सम्भव है और इस नोट में दी गई दलीलों को पूर्व-राजाओं और पूर्व जमींदारों की वकालत के रूप में

लिया जा सकता है। फिर भी, वास्तव में यह सामंती प्रभुओं के लिए नहीं है, बल्कि कांग्रेस संगठन की नेकनामी और इसकी सरकार की प्रतिष्ठा के लिए है, कि यह दलील दी जी रही है। ऐसे आलोचकों को यह तथ्य बता देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि योजना आयोग की सिफारिश के बावजूद भूमि सुधार के तहत—उत्तर प्रदेश में जिन्हें प्रतिपादित और कार्यरूप में लाने का सुयोग और सम्मान मुझे-मिला—छोटे-से-छोटे जमींदार तक को रैय्यतों से भूमि के पुनर्ग्रहण का कोई अधिकार नहीं दिया गया। इसके विपरीत स्थायी अधिकार सिर्फ शिकमी काश्तकारों को ही नहीं बल्कि तथाकथित अतिक्रमणकारियों को भी प्रदान किए गए। "किसी भी अन्य राज्य में दलितों के प्रति इस तरह की चिन्ता, जमींदारों या बहुत ज्यादा कठदलीलें देने वालों या तथाकथित दावों के प्रति उदासीनता नहीं दिखाई गई।" जैसा कि आयोग के दस्तावेजों से स्पष्ट होगा, जमींदारों को पुनर्ग्रहण के अधिकार दे दिए जाने से देश भर मे असंख्य रैंय्यत बेदखल किए गए और यहां-वहां भटकने के लिए छोड़ दिए गये; जहां तक शिकमी काश्तकारों और अतिक्रमणकारियों की बात है, उन्हें सीधे खदेड़ दिया गया।

यह निर्विवाद तथ्य है कि इन जमींदारों में बहुत बड़ी संख्या भू-स्वामी किसानों की थी। जमींदारी उन्मूलन समिति की रिपोर्ट के भाग-2 में पहले और तीसरे नम्बर के वक्तव्यों के अनुसार 20,16,800 दर्ज भू-स्वामियों में से 92 प्रतिशत ने औसतन 8 रुपये प्रति व्यक्ति भू-राजस्व चुकाये और 18,98,000 दर्ज खेतिहर भू-स्वामियों में से 98.3 के पास प्रति व्यक्ति 2.5 एकड़ बिना पट्टे वाली सीर और खुदकाश्त जमीनें थीं। यह इन्हीं खुद जोती जाने वाली जमीनों की बात थी कि वे भूमिधर घोषित किए गए। वे भू-स्वामी तो थे, लेकिन जमींदार नहीं थे जिनके अधीन शोषण के शिकार रैंय्यत हों, बल्कि उनमें से अच्छा-खासा प्रतिशत उनका था जो रैय्यत की हैसियत से दूसरों की जमीन जोत रहे थे। इन भूमिधर बने पूर्व भू-स्वामियों के पास कुल कृषि-क्षेत्र की 14 प्रतिशत से अधिक भूमि है और कुल कृषक वर्ग में इनका लगभग वही प्रतिशत है। दूसरी तरह से देखें तो राजाओं और बड़े जमींदारों की वकालत करने का आज सवाल ही नहीं उठता। भू-जोतों की हदबंदी (1961) के लागू होने के बाद कोई बड़े जमींदार रहे ही नहीं।

भूमिधारी अधिकार हासिल करने वाले काश्तकारों की जहां तक बात है, दिसम्बर 1961 तक इन अधिकारों की प्राप्ति के लिए कोई 43.52 लाख आवेदन-पत्र प्रस्तुत किए गए (और मंजूर किए गए)। इन आवेदन-पत्रों के साथ जो रकम जमा की गयी वह 39.68 करोड़ तक पहुंच गई और कुल कृषि-क्षेत्र के 20 प्रतिशत से उनका सम्बन्ध था। मोटे तौर पर अनुमान है कि उपर्युक्त 43.52 आवेदकों में लगभग 20 से 25 प्रतिशत असली भूमिधर या वे लोग हैं

जो अपनी सारी जमीन के मामले में भूमिधर हैं, और 5 से 10 प्रतिशत वे लोग हैं जो एक जोत के मामले में भूमिधर हैं और दूसरी जोत के मामले में सीरदार। राज्य में एक खेतिहर परिवार की औसत जोतभूमि की अपेक्षा कम भूमि इन भूमिधरों के पास है—कारण यह कि अपेक्षाकृत उन छोटे काश्तकारों के पास आमतौर पर एक से अधिक जोतें हैं जिन्होंने इन अधिकारों की प्राप्ति के लिए आवेदन किए हैं। (पिछले वित्तीय वर्ष 1961-62 की अवधि में जमींदारी उन्मूलन कोष में जमा की गयी रकम 1, 40,22,000 रुपये थी।)

भूमिधरों के भू-राजस्व में 40 वर्षों तक वृद्धि न करने के हमारे द्वारा किए गए वादे के उल्लंघन के बारे में संजीदगी से और बार-बार जो दलील पेश की गयी, उसका उत्तर सिर्फ यही है कि विचाराधीन जोत-भूमि-कर का "वास्तव में भू-राजस्व की दरों से कुछ भी लेना-देना नहीं।" तथा ऐसी आपत्ति हममें से किसी ने नहीं उठाई थी जब 1953 में तत्कालीन मुख्यमंत्री पंडित गोविन्द वल्लभ पंत ने एक 'विकास शुल्क विधेयक' प्रस्तावित किया था, या जब 1957 में 'बड़ी जोत-भूमि-कर कानून' का अधिनियमन हुआ था "जो तथाकथित किए गए वादे का उल्लंघन भी था।"

बात जहां तक इस बहसबाजी की है प्रस्तावित कर से भू-राजस्व में वृद्धि की बात नहीं उठती, "यह कानूनी बाल की खाल निकालना है जिसे जनता आसानी से समझ लेगी।" कोई किसान यह समझे बिना नहीं रहेगा कि उसे जो कर चुकाने के लिए कहा जा रहा है, वह उसके लिए आज देय भू-राजस्व का ठीक 50 प्रतिशत है, और इसीलिए वह सीधे इससे जुड़ा है तथा यह कि भू-राजस्व की तरह ही वह उसकी जमीन पर एक स्थायी शुल्क है (उसे ठीक भू-राजस्व की तरह वसूला जाएगा, निलंबित, स्थगित या माफ किया जाएगा)।

'विकास शुल्क विधेयक' की जहां तक बात है, मेरा उत्तर है कि इसके विरुद्ध जनता के साथ छल को लेकर सम्भवत: कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। विधेयक ने तो बस महज दो वर्षों की अवधि के लिए प्रति एकड़ सिंचित भूमि पर 5 रुपये और असिंचित भूमि पर एक रुपये का शुल्क प्रस्तावित किया था। शुल्क की उगाही का भू-राजस्व से कोई सम्बन्ध ही नहीं, जैसा कि विवादास्पद कर के साथ है। "1953 में प्रस्तावित उगाही के लिए मापदंड वह भू-राजस्व नहीं था जिसका भुगतान कोई किसान सरकार को करता था, बल्कि यह था कि भूमि सिंचित थी या नहीं।" उगाही को सिर्फ दो साल रहना था, जब कि प्रस्तावित कर स्थायी उपाय होने को है। किसी भी स्थिति में उगाही को भू-राजस्व नहीं समझा जा सकता है या इन्हें एक-दूसरे का पर्याय ही माना जा सकता है। इतना होने पर भी कांग्रेस विधायक दल ने उसे इस आधार पर रद्द कर दिया था कि

हर किसान ऐसी स्थिति में नहीं है कि वह प्रति एकड़ एक रुपये का भुगतान कर सके।

'बड़ी जोत-भूमि-कर' की जहां तक बात है, यह एक पुराने उपाय का ही नया नाम था, यानी 'कृषि आय-कर', "जिसे जमींदारी के उन्मूलन से पहले लिया जा रहा था।" कृषि आय-कर कानून (1948) को 1957 में रद्द कर दिया गया था, क्योंकि उसमें कुछ खामियां या बच निकलने के रास्ते थे जिनका उपयोग करके बड़े जमींदार उचित रूप से देय-कर की रकम को काफी कम करा लेते थे। फिर, इसकी उगाही भू-राजस्व पर आधारित एकरूप नियम के अनुसार नहीं होती थी, बल्कि 'स्वीकृत दर' पर आधारित क्रमिक शृंखला में होती थी, उन लोगों से जिनके पास एक निश्चित न्यूनतम क्षेत्र से अधिक भू-क्षेत्र होता था। स्वीकृत दरें अधिकांशत: सम्बद्ध भूमि की उत्पादकता को दृष्टि में रखते हुए भू-सर्वेक्षण अभियानों के दौरान निर्धारित की जाती हैं। बड़ी जोत-भूमि पर कर सामाजिक न्याय का एक औजार था जिससे मुश्किल से 0.1 प्रतिशत किसान प्रभावित होते थे और जिसे शेष 99.9 प्रतिशत किसानों का समर्थन प्राप्त था।

नेताओं के संकल्पित वचनों में जनता का विश्वास होना सभी लोकतांत्रिक सरकारों का आधार है। एक बार यदि यह विश्वास लड़खड़ा उठे तो कोई भी सरकार लम्बे समय तक टिक पाने में समर्थ नहीं होगी। कोई सरकार सैनिक उथल-पुथल, अकाल या अनुचित रूप से ऊंचे कर लगाने के बावजूद बची रह सकती है, लेकिन विश्वासघात—जनता को सच्चाई के साथ दिये गये उस आश्वासन से मुकर कर नहीं, जिस पर लाखों-लाख लोग विश्वास करने लगे हों। "इसमें किसी तरह का सन्देह नहीं हो सकता कि उत्तर प्रदेश में कांग्रेस के मंत्री या कार्यकर्ता अब सार्वजनिक सभाओं में ग्रामीण जनता का सामना नहीं कर पाएंगे; कोई भी व्यक्ति उनके वायदों और आश्वासनों पर अब और यकीन नहीं करेगा।"

जनता के विश्वास को छलने के बारे में यह तर्क शायद किसी अन्य राज्य की स्थितियों में प्रासंगिक नहीं होगा; क्योंकि कहीं भी भूमिधारी अभियान शुरू नहीं किया गया था। उत्तर प्रदेश की स्थिति की तथ्यात्मक जटिलता से प्रधानमंत्री शायद अवगत नहीं हैं। जहां तक योजना आयोग की बात है, वास्तविकता के इस पहलू का ध्यान उसे नहीं था; उपाध्यक्ष श्री गुलजारीलाल नन्दा की राय थी कि नैतिक पहलू को यद्यपि वह दूसरों से ज्यादा महत्त्व देते हैं, फिर भी यह राज्य सरकार पर है कि वह खुद इसके बारे में निर्णय ले।

अन्ततः समस्या का एक और पहलू भी है, अंशतः नैतिक और अंशतः कानूनी, जिस पर हमें गम्भीरता से विचार करना है। राज्य के (45 अस्थायी बंदोबस्ती वाले जिलों में से) 37 जिलों में 1937 से 1943 तक की अवधि में बंदोबस्ती

अभियान चलाए गये थे। जमींदारी उन्मूलन के समय लागू कानून के अनुसार बंदोबस्ती की शर्त थी कि वह 40 साल के लिए हो। जमींदारी का उन्मूलन नहीं किया गया होता, तो वे ही जमींदार अपने रैय्यतों के लगान में वृद्धि की बात करते जो बंदोबस्ती अभियानों के दौरान वैसा नहीं कर पाए थे। और ऐसे जमींदारों की संख्या आवश्यक रूप से बहुत छोटी होती—छोटी क्योंकि जमींदार ऐसा आदमी नहीं होता जो लगान में वृद्धि के अवसर का लाभ उठाने से चूक जाए। जैसी कि स्थिति थी, लगान में इस तरह की वृद्धि 'सिर्फ इसी आधार पर' की जा सकती थी कि लगान स्वीकृत दर से 'वास्तविक तौर पर कम' था, या जिसे स्वीकृत दर की अपेक्षा 'वास्तविक तौर पर कम' कहा जा सकता था और इसीलिए जो किसी वृद्धि के योग्य था। अब प्रस्ताव यह है कि उन्हीं पुराने लगानों (आज जिन्हें राजस्व कहा जाता है) में एकबारगी 50 प्रतिशत की वृद्धि कर दी जाए। अतः हम वही कर रहे हैं अपने "किसानों के साथ, जो जमींदार सम्भवतः नहीं कर पाते।"

भू-राजस्व को बढ़ाने के प्रस्ताव का अनौचित्य आज किसी भी निष्पक्ष प्रेक्षक के दिमाग पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाएगा, जब कहा जाता है कि:

(1) जमींदारी उन्मूलन समिति ने 1948 में 'अनार्थिक जोतों के लगान में तुरन्त कमी की जाने की' सिफारिश की थी—प्रति रुपया छह आने की दर से एक एकड़ तक की जोतों पर, 4 आने की दर से 4 एकड़ तक की जोतों पर और एक आने की दर से 10 एकड़ तक की जोतों पर। समिति की गणना के मुताबिक "जब कमी की दरों को वास्तव में लागू किया जाएगा, तब कुल कमी सम्भवतः 150 लाख रुपये तक पहुंच जाएगी और उससे 80 लाख से ज्यादा लोगों या मोटे तौर पर 70 प्रतिशत किसानों को राहत मिलेगी।" राज्य सरकार द्वारा यह सिफारिश स्वीकार नहीं की गई।

यह उल्लेख करना यहां अप्रासंगिक न होगा कि लगान में कमी की यह सिफारिश जमींदारी उन्मूलन समिति ने 1948 में की थी, 'जब प्रति व्यक्ति या प्रति कृषक परिवार कृषि योग्य भूमि आज की अपेक्षा ज्यादा थी और कृषि-मूल्य 1961 की अपेक्षा कहीं अधिक ऊंचे थे।

(2) जमींदारी उन्मूलन के समय यानी 1951-52 में कृषि आय-कर समेत भूमि से प्राप्त कुल राजस्व लगभग 8.25 करोड़ रुपये होता था और आज भूमिधरों द्वारा अग्रिम रूप से किए गये भुगतान के 1.98 करोड़ रुपये सहित कुल भू-राजस्व की रकम लगभग 23.40 करोड़ रुपये होती है। यह पता चलेगा कि 40 वर्ष तक पूर्व जमींदारों को देय मुआवजे और पुनर्वास अनुदान, धार्मिक संस्थाओं को देय वार्षिक अनुदान आदि, स्थानीय दरों, मुआवजे निर्धारण की लागत आदि, आयकर में घाटा और भू-राजस्व की वसूली आदि को अलग कर

देने पर "राज्य सरकार प्रतिवर्ष लगभग 7.5 करोड़ रुपये 40 वर्षों तक यानी 1992 तक, और उसके बाद स्थायी रूप से प्रतिवर्ष 3.0 करोड़ रुपये का लाभ अर्जित करेगी।"

मुझे अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ जब 17 सितम्बर को कांग्रेस दल की बैठक में जोत भूमिकर के एक समर्थक ने एकाधिक बार सोवियत रूस और चीनी जनवादी गणराज्य के उदाहरण दिए और कहा कि अगर राज्य को विकसित होना है, तो इन देशों की तरह यहां के किसानों द्वारा भारी कर चुकाए ही जाने हैं। हमने सचमुच एक लम्बी यात्रा तय की है, राष्ट्रीय संघर्ष के दिनों से ही, जिसके फलस्वरूप विभिन्न समूहों और वर्गों के लिए हमारी भावनाओं और दिलों में जो जगह किसी समय थी, वे बदल गई हैं। तो फिर ताज्जुब नहीं कि हमारी जनता के विभिन्न तबकों की आय में असमानता की खाई, जो ब्रिटिश हुकूमत के दिनों में ही काफी चौड़ी थी, पिछले 15 वर्षों के हमारे कार्यकाल के दौरान और भी चौड़ी हो गयी है।

अन्त में; अब यह कहा जा रहा है कि यह विधेयक इस चरण में वापस ले लेना चूंकि राजनीतिक दृष्टि से अविवेकपूर्ण होगा, इसलिए सबसे उत्तम उपाय यह होगा कि अनार्थिक जोतों को इससे मुक्त रखा जाए, और इस प्रकार सिर्फ उन्हीं पर कर लगे जो आसानी से चुका सकते हैं। यह स्थिति हालांकि नहीं आती अगर एकाधिक बार किये गये इस अनुरोध को मुख्यमंत्री ने स्वीकार कर लिया होता कि विधान सभा में विधेयक पेश करने से पहले पार्टी की स्वीकृति ले ली जाए। इसलिए कि यह कोई साधारण कराधान विधेयक नहीं था बल्कि इसने कांग्रेस संगठन के सामने जीवन-मरण का सवाल खड़ा कर दिया था। हालांकि उनके अनुसार 'स्थापित कार्यविधि' यह है कि किसी विधेयक पर पार्टी में ब्यौरेवार चर्चा उसके विधान सभा में पेश या प्रस्तावित किये जाने के बाद ही हो तथा उन्होंने अगर पेश किये जाने से पहले पार्टी को कराधान प्रस्तावों के बारे में बता दिया होता तो वह विशेषाधिकार हनन के दोषी माने जा सकते थे। फिर भी हमारी पार्टी के संविधान और व्यवहार के अनुसार नीतिगत महत्त्वपूर्ण सवालों से जुड़े विशिष्ट उपायों के बारे में स्थापित कार्यविधि कुछ और तरह की है, उदाहरण के लिए जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार विधेयक (1949), और विकास शुल्क विधेयक पर पार्टी में बहस पहले हुई थी।

कराधान उपायों को पोशीदा रखने की बात जहां तक है, यह जाहिरा तौर पर सिर्फ उन उपायों पर पर लागू होती है जो बाजार या स्टाक एक्सचेंज को तुरन्त प्रभावित करने वाले हों। विचाराधीन विधेयक के साथ ऐसा कुछ भी नहीं है।

फिर, कामन सभा (ब्रिटेन) और लोक सभा में यह नियम रहा है कि कोई

नीतिगत विषय यदि पहले या चालू सत्र के दौरान ही सदन को विश्वास में लिए बिना बाहर घोषित किया जाता है तो वह विशेषाधिकार का हनन नहीं, अधिक-से-अधिक 'शिष्टाचार' का उल्लंघन हो सकता है। यह स्थिति सार्वजनिक घोषणाओं और संवाददाता सम्मेलनों के बारे में है; जहां तक पार्टी की बैठकों का सम्बन्ध है, वे विशेषाधिकार के दायरे में आती ही नहीं। कहीं ऐसा होता तो फिर लोकतंत्र में राजनीतिक दलों का कार्य करना ही असम्भव हो जाता।

फिर भी, यह तो विगत की बातें हुईं। पार्टी का परामर्श लिए बिना विधेयक विधान सभा में पेश किया जा चुका है। लेकिन पेश किए जाने के बावजूद इसे वापस ले लिये जाने के मार्ग में कोई बाधा नहीं है। ऐसे अवसर आए हैं जब सरकार ने गलत कदम उठाए जाने का अहसास होते ही सदन में विचाराधीन विधेयक वापस ले लिए। जब भी उच्चतर विवेक ने प्रेरित किया, हमारा नेतृत्व अपने कदमों पर पुनर्विचार से नहीं हिचका। सिर्फ एक उदाहरण दिया जाता है : प्रधानमंत्री उस समय व्यापक जनभावना के समक्ष ही झुके थे, जब 1957 के आम चुनाव के बाद वह बम्बई के विभाजन के लिए राजी हुए थे। इससे उनकी प्रतिष्ठा कम नहीं हुई।

अब, अनार्थिक जोत की बात। हम इसे कैसे परिभाषित करें? कुछ लेखकों ने इसे भूमि की उस इकाई के रूप में परिभाषित किया है जो एक किसान और उसके परिवार को उचित स्तर के जीवन की सुनिश्चितता सुलभ करे। औरों ने इसे ऐसे भू-क्षेत्र के रूप में परिभाषित किया है जो पूरे साल-भर एक जोड़ी बैलों और एक औसत परिवार यानी 2.2 व्यक्तियों के श्रम-संसाधनों को व्यस्त रख सके। भूमि की किस्म, सिंचाई की उपलब्धता, विपणन और अन्य सुविधाओं, बैलों की खींचने की क्षमता और खुद किसान की कुशलता के अनुसार ये क्षेत्र अलग-अलग तरह के होंगे। इस प्रकार मेरे विचार से राज्य के अधिकांश भागों में ये भिन्न-भिन्न क्षेत्र 6.25 एकड़ से 12.5 एकड़ तक के होंगे। बुंदेलखण्ड क्षेत्र में यह आंकड़ा अलग-अलग 10 से 20 एकड़ तक हो सकता है। अक्सर यह आरोपित किया जाता है कि मेरी दृष्टि में 6.25 एकड़ भूमि सभी स्थितियों में आर्थिक या लाभकारी जोत होती है, चाहे उसकी गुणवत्ता और अन्य तथ्य जो भी हों। मैंने ऐसा कभी नहीं कहा, और जमींदारी उन्मूलन और भूमि-सुधार कानून (1952) में कहीं भी आर्थिक जोत को परिभाषित नहीं किया गया है। इस कानून के तहत सिर्फ एक प्रावधान में 6.25 एकड़ के क्षेत्र का उल्लेख है जो कहता है कि भूमि की कमी और इसके लिए मचती हाय-तौबा को देखते हुए गांव समाज इससे बड़ा भू-क्षेत्र पट्टे पर नहीं दे सकता।

जमींदारी उन्मूलन समिति की रिपोर्ट (1948) बताती है कि अपने एक नोट में कृषि निदेशक ने उस भू-क्षेत्र के बारे में निम्नांकित राय जाहिर की जो दो

बैलों की जोड़ी से पर्याप्त रोजगार सुलभ करेगी :

> प्रदेश के पश्चिमी भाग में किसान आमतौर पर उम्मीद रखता है कि दो अच्छे बैलों की जोड़ी से साधारण सघन खेती के तहत 10-15 एकड़ तक खींच लेगा। प्रदेश के पूर्वी हिस्से में साधारण बैलों से वह 5-8 एकड़ पर नियंत्रण रख पाता है। इस तरह खेती की किस्म और मवेशियों की क्षमता के मुताबिक बैलों की एक जोड़ी 6 से 15 एकड़ तक की खेती के लिए पर्याप्त है। ज्यादा छोटे क्षेत्र के लिए एक जोड़ी रखना अलाभकारी है, लेकिन बहुसंख्यक मामलों में यही किया जाना है। (पृ०-23)।

विचार-विमर्श के बाद समिति इस निष्कर्ष पर पहुंची कि प्रदेश के विभिन्न हिस्सों में प्रत्येक हल से जोते जाने वाले वास्तविक औसत कृषि-क्षेत्र को औसत लाभकारी जोत के प्रतिनिधि के रूप में नहीं लिया जा सकता। यह माना गया कि "5 से 8 एकड़ की निम्नतर सीमा को आर्थिक (लाभकारी) इकाई नहीं समझा जा सकता, क्योंकि जोतें अधिक बड़ी होंगी तो हलों की संख्या घटेगी। इसलिए लगभग 10 एकड़ की औसत इकाई पूरे प्रदेश के लिए स्वीकार की जा सकती है, जिसे अवश्य ही हम लक्ष्य बनाकर चलें।" (पृष्ठ-24)।

हदबबंदी तय करने के क्रम में सलाह देते समय योजना आयोग ने 'आर्थिक' जोत से बचते हुए सिर्फ पारिवारिक जोत की चर्चा की है। फार्मों के आकार पर रिपोर्ट देने के लिए योजना आयोग के भूमि सुधार पैनल द्वारा नियुक्त समिति ने सुझाव दिया कि जो फार्म पारिवारिक श्रम के पारिश्रमिक सहित 1200 रुपये की शुद्ध आय देता हो और एक हल हकाई—यानी वह भू-क्षेत्र जिस पर एक औसत परिवार बैलों की एक जोड़ी से खेती कर सके—से छोटा नहीं हो, तो उसे पारिवारिक जोत समझा जा सकता है।

उत्तर प्रदेश फार्म प्रबन्धन सर्वेक्षण के अनुसार, जिसका उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है (स्टडीज इन इकोनॉमिक फार्म मैनेजमेंट इन उत्तर प्रदेश, 1954-55), मेरठ और मुजफ्फरनगर में यह 10-15 एकड़ वाले आकार-समूह की जोत है जो प्रति एकड़ रु० 120.21 की शुद्ध आय प्रतिवर्ष देती है (देखें—तालिका संख्या-13.8)।

उत्तर प्रदेश में लागू जोतभूमि हदबंदी कानून, जिसे 1961 में विधि-पुस्तिका में दर्ज किया गया, के तहत 'औसत' किस्म के 40 एकड़ के न्यूनतम क्षेत्र को तीन-परिवारी जोत माना गया, जिससे 13.3 एकड़ का एक इकाई क्षेत्र होता है। जमीन घटिया हो तो यह क्षेत्र और बड़ा होगा।

अत: अगर यह सोचा जाए कि इस विचार को एकदम छोड़ देना प्रतिष्ठा के प्रतिकूल होगा और अतिरिक्त राजस्व की उगाही 'सीधे' भूमि से की जानी है—

यह ध्यान रखे बिना कि कृषक समुदाय की आर्थिक स्थिति इसकी इजाजत देती है या नहीं अथवा भूमि पर कर-भार, "जो, दुबारा कहें तो यहां का पहले से ही देशभर में उच्चतम है", नहीं बढ़ाने से राज्य की तीसरी योजना गड़बड़ा जाएगी—तो मैं विनम्रता और अपनी पूरी संजीदगी के साथ अर्ज करूंगा कि 'बड़ी जोत-भूमि-कर कानून' (1957) की तर्ज पर कोई दूसरा कानून इस विधेयक की जगह ले जिसमें रकबे की छूट-सीमा 30 एकड़ से 12.5 एकड़ (या 20 मानक बीघा) पर नीचे लाई जाए और आय या वार्षिक मूल्य की सीमा को सालाना 3,600 रु० से बढ़ाकर 12,000 रुपये किया जाए। सीमा 12.5 एकड़ निश्चित किये जाने के पीछे एक बढ़िया कारण यह है कि यही वह सीमा है जो हमारे राज्य में भूमि के भावी अधिग्रहण पर लागू होगी। फिर, कर का निर्धारण इस ढंग से हो कि भू-राजस्व के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं रहे। भू-राजस्व जो आज देय है, उसके पीछे कोई युक्तिमूलक आधार नहीं है। यह मिट्टी की उत्पादकता पर आधारित नहीं है बल्कि पुराने कानून के तहत किसान की जो काश्तकारी थी उससे भिन्न किस्म का है; जैसे, वह कोई दखलकार था या पूर्व-स्वामित्व वाला, वंशानुगत था या गैर-दखलकार, शिकमी काश्तकार था या अतिक्रमणकारी, पूर्व-जमींदार की भूमिका में वह परम लोभी था या उसमें एक तरह की मानवीय उदारता थी, तथा यह भी कि खास जिले या क्षेत्र में भूमि के लिए तुलनात्मक मांग कैसी है। अतएव वार्षिक मूल्यांकन भू-राजस्व की बहुगुणितता के जरिये नहीं, बल्कि चालू 'स्वीकृत दर' से होना है, जिसका निर्धारण पिछले बंदोबस्ती अभियान के दौरान मिट्टी की उत्पादकता को ध्यान में रखते हुए किया गया था। फिर यह भी कि इस उपाय को सिर्फ 2 या 3 वर्षों की अवधि तक प्रभावी रहना चाहिए। एक ही दिन में इस विधेयक का मसौदा तैयार किया जा सकता है और उसी दिन मौजूदा विधेयक को वापस लेकर विधान सभा में इसे पेश किया जा सकता है। मेरे अनुमान के मुताबिक करदाताओं की संख्या तकरीबन 3.0 लाख होगी और उनके पास की फालतू या कर योग्य भूमि लगभग 40 लाख एकड़ तक जा पहुंचेगी। मैं निश्चित तो नहीं हूं, लेकिन यह उपाय हमारे पास औसतन 5 रुपये प्रति एकड़ की दर से लगभग 2 करोड़ रुपये ले आएगा।

मैं फिर भी यह उल्लेख करना चाहूंगा कि ऊपर दिये गये तरीके से लगाया गया कर जहां हमें विश्वासघात के आरोप से 'सम्भवत:' बचा लेगा, वहीं यह राजनीतिक और आर्थिक खतरों से भी भरा होगा। व्यवहारत: किसान इसे इस बात की अग्रिम सूचना के तौर पर लेंगे कि सरकार अब उनसे अदूर भविष्य में 12.5 एकड़ से या जो भी रकबा हम तय करें, उससे फालतू जमीन छीन लेना चाहती है। उनके अनुभव उन्हें बतायेंगे कि यह बहुत लम्बे समय पहले की बात नहीं है कि सामाजिक न्याय के आधार पर 30 एकड़ की न्यूनतम छूट-सीमा और

वार्षिक 3500 रुपये की आय के साथ सामान्य भू-राजस्व से कहीं ज्यादा रकम चुकाना उनके लिए आवश्यक था। किसानों में अगर यह भावना घर कर ले कि बड़ी जोत और सामाजिक न्याय की हमारी परिभाषा बदल गई है, तो उन्हें और तरह से मनाना आसान नहीं होगा। "ये 12.5 एकड़ से अधिक वाले जोतदार ही हैं जो देहातों में राजनीतिक प्रभाव रखते हैं। यह प्रभाव भविष्य में हमारे खिलाफ काम करेगा। आर्थिक परिणामों की जहां तक बात है : यह किसानों में अनिश्चितता की भावना पैदा करेगी और इसीलिए उन्हें अनुत्साहित करेगी, इस बात के प्रति कि वे कृषि उत्पादन बढ़ाएं जो कि हमारा लक्ष्य है। राज्य में जो गिनी-चुनी आर्थिक (लाभकारी) जोतें अभी भी मौजूद हैं, वे बंटकर अनार्थिक (अलाभकारी) जोतें हो जायेंगी ताकि जोतदार भारी कराधान से बच निकलें।"

लखनऊ, हस्ताक्षर
29 सितम्बर 1962 (चरण सिंह)
कृषि मंत्री, उत्तर प्रदेश

14

श्रीमती सुचेता कृपलानी का दौर

कथित 'कामराज योजना' (भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष तमिलनाडु के श्री कामराज के नाम पर) के फलस्वरूप सितम्बर 1963 में श्रीमती सुचेता कृपलानी राज्य की मुख्यमंत्री बनीं, जो उत्तर प्रदेश के लिए बिल्कुल अजनबी थीं। श्री सी० बी० गुप्ता मुख्यमंत्री बनने में सफल नहीं हुए और श्री चरण सिंह कांग्रेस हाई कमान के लिए अस्वीकार्य व्यक्ति थे, व्यवहारतः जिसका अर्थ था कि श्री जवाहरलाल नेहरू सहकारी खेती पर श्री चरण सिंह के विचारों को लेकर उन पर खफा थे। बहुत-से कांग्रेसी नेताओं की तरह श्रीमती कृपलानी को भी दोष नहीं दिया जा सकता कि उन्हें देश की भूमि और कृषि की समस्याओं की जानकारी नहीं थी या यही पता नहीं था कि गांव की जिन्दगी कैसे चलती है। इसलिए किसी को चकित नहीं होना चाहिए कि उन्होंने भी भूमि सुधार कानून की प्रभाविता को कम करने के गम्भीर प्रयास किये, जो उनके आगमन से कई वर्ष पहले उत्तर प्रदेश में लागू हो चुका था। उनके द्वारा किये या आगे बढ़ाये गये दो प्रस्तावों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी; जैसे—पहला, इस बात को ध्यान में रखे बिना कि उनके कब्जे की भूमि का रकबा कितना है तथा इस पर भी गौर किये बिना कि वे तन-मन से स्वस्थ हैं और किसी प्रकार की विकलांगता के शिकार नहीं हैं, सभी सीरदारों और भूमिधरों को अपनी जमीनें पट्टे पर देने की अनुमति नहीं दी जा सकती है, और दूसरा, भविष्य में किसी भी व्यक्ति को कम-से-कम बाग लगाने के लिए 12.5 एकड़ से ज्यादा भूमि अर्जित करने की अनुमति रहे (मौजूदा कानून के तहत उत्तर प्रदेश में कोई व्यक्ति जो भूमि अर्जित कर सकता था उसकी सीमा 12.5 एकड़ थी, जिसमें वह भूमि भी शामिल थी जो पहले से उसके पास रही हो)।

राजस्व सचिव ने जब उन प्रस्तावों पर राय मांगते हुए वह फाइल चरण सिंह के पास भेजी, तो उन्होंने स्पष्टतः लिखा कि अगर इन प्रस्तावों को मंजूर किया

गया तो परिणाम यही होगा कि जमींदारी प्रथा का फिर उदय होगा और भूमि चन्द लोगों के हाथों में सिमट कर रह जाएगी तथा एक दशक से भी अधिक समय तक तन-मन से संघर्ष करने के बाद सामंती या जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के जरिये जो कुछ हासिल किया गया था, वह सब व्यर्थ हो जाएगा।

पहले प्रस्ताव के बारे में चरण सिंह ने उस फाइल में जो विशेष सचिव (कृषि) द्वारा उनके पास भेजी गयी थी, यह टिप्पणी दर्ज की :

> मुझे भय है कि मैं असहमत रह गया हूं। देहाती अर्थव्यवस्था में ऐसा कोई बदलाव आया ही नहीं है कि कानून में परिवर्तन की अनिवार्यता हो, मैं राजस्व विभाग या कृषि सचिव की टिप्पणियों को स्वीकार नहीं करता, मगर यहां ब्यौरे में नहीं जाना चाहता। शिकमी देने या इससे सम्बद्ध बातों के पक्ष में कुछ तर्क हैं और हमेशा रहे हैं, लेकिन किसी निर्णय पर पहुंचने से पहले हमें समस्या के दोनों ही पहलुओं के गुण-दोषों पर बारीकी से विचार करना है। मेरा दिमाग इस मामले में बिल्कुल साफ है कि कानून में प्रस्तावित संशोधन मौजूदा कानून की अपेक्षा ज्यादा बड़ी समस्याएं उपस्थित करेगा। सम्बद्ध भूमि का प्रतिशत उतना अधिक है ही नहीं और कृषि उत्पादन में वृद्धि के नाम पर हमें ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए जो हमारे भूमि सुधारों के पूरे आधार को उलट-पुलट डाले। बल्कि हमारा ध्यान कानून के बेहतर ढंग से अमल पर जाना चाहिए। योजना आयोग की राय या किसी पंचवर्षीय योजना का हवाला देना मेरे लिए कोई वजन नहीं रखता। जमींदारों द्वारा रैय्यतों की जमीनों के बारे में हमने उनकी वह सलाह ठुकरा दी थी, जिसके कारण अन्य राज्यों को कई परेशानियां उठानी पड़ी थीं। पैकेज जिलों में काश्तकारी की दशाओं के बारे में वुल्फ लेंडजिस्की की जो रिपोर्ट योजना आयोग को दी गई थी, उसके अनुसरण से मेरे विचार की पुष्टि होगी। अत: हमें गुणों के आधार पर फैसला करना है, न कि इस आधार पर कि योजना आयोग क्या कहता है या नहीं कहता है।
>
> हस्ताक्षर
> (चरण सिंह)
> 25 जून, 1974

राजस्व विभाग ने, जो अप्रैल 1959 में चरण सिंह के इस्तीफा देने के बाद से ही ठाकुर हुकुम सिंह के अधीन था, भूमिधरों और जमींदारों को अपनी जमीनें शिकमी पर उठाने का अधिकार प्रदान किये जाने पर बल देते हुए एक अन्य नोट

के साथ वह फाइल वापस भेज दी। चरण सिंह फिर भी अपनी बात पर अडिग रहे और उन्होंने दूसरी बार यह टिप्पणी की :

मुख्यमंत्री

मुझे खेद है कि मैं इस फाइल को इतने लम्बे समय तक अपने पास रोके रहा। फिर भी मैं नहीं समझता कि इससे जनहित को जरा भी क्षति पहुंची है।

मैं सहमत था कि कृषि उत्पादन से सम्बन्धित मंत्रिमंडलीय उपसमिति की बैठक की कार्य-सूची में इस विषय को शामिल किया जाए, क्योंकि विशेष सचिव (कृषि) ने मुझसे कहा था कि राजस्व विभाग यही चाहता है।

इस प्रस्ताव से मैं बहुत ही बेचैन हूं। मुझे पता नहीं कि क्या-क्या बातें सामने आने वाली हैं। खेती के लिए अपनी भूमि दूसरों को शिकमी पर देने का भू-स्वामी का यह अधिकार ही है जो अन्ततः जमींदारी प्रथा की ओर ले जाता है। यही कारण है कि काफी सोच-विचार के बाद क्यों ऐसे भूमिधरों और सीरदारों को यह अधिकार नहीं दिया गया जो शरीर और मन से पूरी तरह स्वस्थ थे। उन्हीं को अब यह अधिकार प्रदान किये जाने का मतलब वह सबकुछ बेकार कर देना होगा जो स्वाधीनता के उदय के साथ ही बड़े जोश-खरोश से हमने शुरू किया था।

मैं यह समझ पाने में भी असमर्थ हूं कि भूमिधर या सीरदार के अपनी-अपनी भूमि शिकमी पर देने के अधिकार को मायन्ता देने के फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि कैसे होगी। दुनिया भर में मान्यता है कि जितना मालिक उपजाता है, उतना किसान नहीं। भू-स्वामी को शिकमी करने का अधिकार प्रदान कर हम विश्वव्यापी आर्थिक सत्य के विरुद्ध जा रहे हैं। अपने पिछले नोट में जैसा कि पहले ही कह चुका हूं, आवश्यकता कानून के प्रासंगिक प्रावधान को सख्ती से लागू करने की है, जिसका उल्लंघन 5 प्रतिशत से ज्यादा भूमिधर और सीरदार कर रहे हैं—न कि प्रावधान को ही रद्द कर देने की, जिससे हमारी पूरी भूमि-व्यवस्था मजाक बनकर रह जाएगी।

हस्ताक्षर
(चरण सिंह)
11 जनवरी 1965

मुख्यमंत्री द्वारा दूसरे प्रस्ताव की पहल मुख्य सचिव को सम्बोधित इस नोट के जरिये की गई :

मुख्य सचिव

यह सज्जन मुझसे मिलने आये और फलोद्यानों की समस्याओं की तरफ मेरा ध्यान आकर्षित किया। इनका यह कहना सही है कि 12.5 एकड़ की हदबंदी के तहत फलोद्यानों के विकास की उम्मीद रखना मुश्किल है। मैं हैरान हूं कि इस मामले में हम क्या कर सकते हैं। मुख्य सचिव शायद इस पर कुछ सोच-विचार करें।

हस्ताक्षर
(सुचेता कृपलानी)
20 जुलाई 1965

मुख्यमंत्री

सवाल यह है कि फलोद्यानों को क्या उस कानूनी प्रावधान से मुक्त रखना चाहिए कि भविष्य में किसी को भी इतनी भूमि अर्जित करने की छूट नहीं रहे, जिससे उसकी कुल जोत मिलाकर 12.5 एकड़ से अधिक हो जाए? यह तर्क कि कोई फलोद्यान इससे छोटे क्षेत्र में विकसित नहीं किया जा सकता, वैध नहीं है; अर्थात् तर्क या अनुभव के आधार पर इसके औचित्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह फलोद्यान और फलोद्यान का फर्क है। फलोद्यान आम तौर पर साधारण फसलों की खेती से ज्यादा उपज देते हैं। इसलिए अगर फलोद्यानों के लिए छूट दिया जाना जरूरी समझा जाता है तो कोई कारण नहीं कि हदबंदी के प्रावधान को एकबारगी रद्द ही क्यों नहीं कर दिया जाए।

वह मैं ही था जो प्रावधान को लागू किये जाने के लिए जिम्मेदार था। जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार कानून (1952) में आवश्यक संशोधन जब किया जा चुका था, तब भारत सरकार द्वारा कृषि के अध्ययन के लिए चीन और जापान भेजे गये एक प्रतिनिधि मण्डल की रिपोर्ट मुझे देखने को मिली। रिपोर्ट में कहा गया था कि जापान में भावी प्राप्तियों के लिए 7.5 एकड़ की हदबंदी निश्चित की गई है। जैसा कि हममें से बहुतों को पता है कि जापान में औसत जोत 2.5 एकड़ या इसी के आसपास है, इसलिए वहां औसत जोत के तीन गुना बराबर हदबंदी तय की गई है। उत्तर प्रदेश में औसत जोत मुश्किल से 4.00 एकड़ होती है, इस तरह हमारी 12.5 एकड़ की हदबंदी बिल्कुल ठीक और समुचित है तथा एक ऐसे देश के उदाहरण द्वारा समर्थित है जो प्रति एकड़ कृषि उत्पादन के मामले में दुनिया के ज्यादातर देशों को सही रास्ता दिखा रहा है।

एक और बात विचारने की है। इस प्रावधान के पीछे भावना यह थी कि

भूमि के गिने-चुने लोगों के हाथ में सिमट जाने पर रोक लगी रहे। हदबंदी का आंकड़ा जितना ऊंचा रहेगा, उतने ही कम लोग होंगे जिनके हाथों में भूमि धीरे-धीरे सिमट आएगी और जिसके फलस्वरूप ज्यादा-से-ज्यादा लोग नीचे श्रमिक के दर्जे पर चले जायेंगे, जैसा कि शायद हममें से कोई नहीं चाहता।

राज्य में जो इधर नई प्रवृत्तियां उभर रही हैं, उन्हें देखकर मुझे पीड़ा होती है। यहीं पिछले दिनों मैं ऐसे प्रस्ताव से रूबरू हुआ था कि सभी किसानों को अपनी जोत की जमीनें जिसे चाहें शिकमी पर देने की इजाजत दे दी जाए—ऐसे किसानों को भी जो किसी भी तरह से विकलांग नहीं हों। अब दूसरे शब्दों में यह जमींदारी प्रथा को पूरी तरह से लाने का उपक्रम है जिसे कांग्रेसियों ने कभी पसन्द नहीं किया था। इसका मतलब है कि जमींदारी के उन्मूलब के लिए जितनी सारी हमारी भावनाएं थीं और जितने सारे प्रयास हमने किये थे, वे सब व्यर्थ गये। मेरा दिमाग इस मामले में बिल्कुल साफ है कि शिकमी वाले प्रस्ताव के साथ-साथ विचाराधीन प्रस्ताव भी पीछे की ओर ले जाने वाले कदम हैं।

हस्ताक्षर
(चरण सिंह)
22 मार्च 1965

यहां यह उल्लेख करना शायद अप्रासंगिक नहीं होगा कि मुख्यमंत्री बनने के बाद श्रीमती सुचेता कृपलानी ने लखनऊ जिले में बाराबंकी मार्ग के किनारे फलों का एक निजी बाग लगवाया था।

सीरदारों और भूमिधरों को अपनी जमीनें शिकमी पर उठाने की इजाजत के बारे में जो प्रस्ताव था, उस पर अन्ततः मुख्यमंत्री ने स्वयं 17 नवम्बर 1965 को राजस्व मंत्री ठाकुर हुकुम सिंह (जिन्हें चरण सिंह के इस्तीफे के बाद अप्रैल 1959 में राजस्व विभाग की जिम्मेवारी सौंपी गई थी), कृषि मंत्री श्री गेंदा सिंह और श्री चरण सिंह के साथ बैठकर चर्चा की। राजस्व मंत्री और कृषि मंत्री दोनों ही प्रस्ताव के पक्के समर्थक थे। यह एक बहुत बड़ी बात थी कि श्रीमती सुचेता कृपलानी ने श्री चरण सिंह को महसूस कराया कि वह प्रस्ताव को वापस ले रही हैं।

उस चर्चा के बाद चरण सिंह ने सम्बद्ध फाइल में, जो उन्हीं के पास पड़ी थी, यह टिप्पणी दर्ज की :

फाइल में नीचे दो टिप्पणियां मेरे द्वारा दर्ज की गई थीं जिनका सम्बन्ध जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार कानून में संशोधन के एक प्रस्ताव से था, इस प्रभाविता के साथ कि कृषि उत्पादन में वृद्धि के हित में सीरदारों और भूमिधरों को अपनी जमीनें शिकमी पर उठाने की इजाजत दे दी जाए।

प्रस्ताव पर मुख्यमंत्री श्रीमती सुचेता कृपलानी ने आज ठाकुर हुकुम सिंह, श्री गेंदा सिंह और मेरे साथ चर्चा की। राजस्व मंत्री और कृषि मंत्री दोनों ने ही प्रस्ताव का जोरदार समर्थन किया। खुद मुख्यमंत्री का जबर्दस्त झुकाव प्रस्ताव के पक्ष में ही था, लेकिन मुझे सुन लेने के बाद उन्होंने इसे वापस लेने का फैसला किया।

हस्ताक्षर
(चरण सिंह)
17 नवम्बर 1965

फिर भी, पांच दिन बाद ही यानी 22 नवम्बर 1965 को राज्य मंत्रिमंडल की बैठक में चरण सिंह की गैर-हाजिरी में इस प्रस्ताव का जिक्र फिर से किया गया। खबर है कि मंत्रिमंडल के तीन सदस्यों में से एक हरगोविन्द सिंह ने भी प्रस्ताव का समर्थन किया था, उन्होंने 1954 में अधिवासियों को स्थायी अधिकार दिये जाने का विरोध किया था। चरण सिंह स्तब्ध रह गये थे, जब 27 नवम्बर को उन्हें मुख्यमंत्री का एक नोट मिला, जिसमें कहा गया था कि वह "मुख्य सचिव और राजस्व सचिव को इस विषय पर चर्चा के लिए बुला सकते हैं।" फिर भी उन्होंने उन महत्त्वपूर्ण सवालों पर अफसरों के साथ चर्चा करना उचित नहीं समझा जिन्हें काफी सोच-विचार और श्रम के बाद एक दशक से भी पहले निपटा लिया गया था और मुख्यमंत्री को इस प्रकार लिख भेजा :

मुख्यमंत्री

मैं उस दिन यह प्रभाव लेकर लौटा था कि मुख्यमंत्री प्रस्ताव को वापस ले लेने के लिए रजामद हो चुकी हैं। फिर भी लगता है कि मैं गलत था। बहरहाल, ऐसा कुछ भी नहीं है कि उपयोगी ढंग से मैं मुख्य सचिव और राजस्व सचिव के साथ चर्चा कर सकूं। निश्चित मामलों को छोड़ शिकमी पर रोक एक नीतिगत निर्णय था जिसे सरकार, कांग्रेस पार्टी और विधायिका ने ब्यौरेवार विचार-विमर्श के बाद लिया था। जैसा दि मैं दोनों टिप्पणियों में कह चुका हूं, उस निर्णय को उलट देना जनहित में घातक होगा और

यह जमींदारी उन्मूलन के प्रभावों को बहुत ही बड़े पैमाने पर व्यर्थ कर देगा।

हस्ताक्षर
(चरण सिंह)
4 फरवरी 1965

यह विषय अभी स्थगित रहे।

हस्ताक्षर
(सुचेता कृपलानी)
10 फरवरी 1965

हस्ताक्षर
(चरण सिंह)
22 फरवरी 1965

15

सारांशतः

उत्तर प्रदेश में भूमि सुधारों की प्रकृति के बारे में और कैसे उन्हें लागू किया गया था, इसके बारे में सबूत के तौर पर हम फिर 'कृषि की अवस्थाएं और पैंकेज कार्यक्रम' शीर्षक वाली उस रिपोर्ट का उल्लेख करना चाहेंगे जो 1963 में श्री वुल्फ लेडजिस्की ने हमारे योजना आयोग को दी थी। श्री लेडजिस्की कृषि-विशेषज्ञ थे, जिन्हें फोर्ड फाउण्डेशन टीम ने भारत में कृषि उत्पादन पर भूमि काश्तकारी के प्रभाव का अध्ययन के लिए प्रतिनियुक्त किया था। भारत सरकार ने गहन कृषि विकास कार्यक्रम को—जिसके लिए वित्त की व्यवस्था फोर्ड फाउण्डेशन ने की थी—लागू करने के लिए देश में पांच जिले चुने थे; यथा : मद्रास, आन्ध्र प्रदेश, बिहार, पंजाब और उत्तर प्रदेश राज्यों से एक-एक जिला।

श्री लेडजिस्की जापान में, जबकि वह अमेरिका के अधीन था, भूमि-सुधारों की शुरूआत के लिए जिम्मेवार थे और इसलिए यह अपेक्षा की जाती थी कि जो कुछ वह कह रहे थे, उसका उन्हें पता था। पांच राज्यों में किये गये भूमि-सुधारों का उल्लेख करते हुए श्री लेडजिस्की ने अपने विचार का खुलासा इस प्रकार किया :

> मद्रास और आन्ध्र प्रदेश में मौजूदा भूमि सुधार कानून अस्थायी और कामचलाऊ ढंग का है और व्यापक कानून अभी बनाया जाना है। बिहार में अभी भी कुछ संशोधनों के साथ 1885 का टेनेंसी एक्ट ही लागू है जो पूरी तरह से अपर्याप्त है। पंजाब में लागू कानून बहुत ही दोषपूर्ण है तथा उसमें पूरे फेरबदल की जरूरत है। सिर्फ उत्तर प्रदेश में ही एक सुविचारित और व्यापक कानून बनाया तथा अमल में लाया गया है। वहां लाखों रैय्यतों और शिकमीदारों को मालिकाना हक दिया था तथा जिन हजारों को बेदखल किया जा चुका था, उनके अधिकारों को बहाल कर दिया गया। (पृष्ठ 2-3)

श्री लेर्डजिस्की ने फिर अपनी रिपोर्ट के अंतिम अध्याय में यह भी कहा : अलीगढ़ के (उत्तर प्रदेश में पैकेज जिला अलीगढ़ ही था) कृषि ढांचे की तरफ फिर नजर डालें तो भूमि सुधारों के डेढ़ दशक बाद हमारे पास सीरदार[1] के बारे में पहले ही दिये जा चुके सुझाव के अलावा न तो जोड़ने के लिए कुछ और न ही देने के लिए कोई संशोधनात्मक सुझाव है। भारत में कृषि सुधार कानून काफी हद तक गतिहीन रहा, किन्तु उत्तर प्रदेश में इसे चुस्ती से अमली रूप दिया और महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां हासिल की गईं। इससे यही एक सीख मिलती है : जहां कर डालने की इच्छा होगी वहां इसे किया जा सकता है। खाते में दर्ज लाखों जाली प्रविष्टियों को काटा जा सकता है, भूमि के सही सत्वाधिकारियों के नाम दर्ज किये जा सकते हैं और काश्तकारी के अधिकारों को सुरक्षा प्रदान की जा सकती है। (पृष्ठ 57-58)

श्री लेर्डजिस्की जोतों की चकबंदी की योजना को 'प्रभावशाली और सफल कार्यक्रम' कहते हैं और आगे यह टिप्पणी करते हैं कि "उन गांवों में इस कार्यक्रम का असर बिल्कुल स्पष्ट था जहां दो वर्ष पहले चकबंदी का काम पूरा कर लिया गया था। किसानों द्वारा अपनी चकबंद भूमि पर बना लिये गये कुओं की संख्या के रूप में इसके सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम को देखा जा सकता है।" (पृष्ठ 57)

'टाइम्स ऑफ इंडिया' के 9 सितम्बर 1964 के अंक में प्रकाशित एक लेख में दक्षिण-पूर्व एशिया के अनेक देशों में भूमि-सुधार कानून की चर्चा करते हुए श्री लेर्डजिस्की ने पुनः उत्तर प्रदेश का हवाला इन शब्दों में दिया :

> सुधारों के कार्यान्वियन में प्रशासकीय समस्याएं एक विकट अवरोध हैं। दूसरी तरफ, भारत के एक सबसे बड़े और बहुत ही सघन आबादी वाले उत्तर प्रदेश के अनुभव को देखते हुए कहा जा सकता है कि अगर काबू पाने की इच्छा दृढ़ हो तो यह कोई दुर्निवार कठिनाई नहीं है। बहुत-से विधायी कानूनों में पाठ का दोषपूर्ण होना ही मुख्य मुद्दा है।

भूमि सुधार कानून का इतिहास सम्भवतः उत्तर प्रदेश के 'जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार कानून' जैसे ठोस दूरगामी उपाय का दूसरा उदाहरण प्रस्तुत नहीं करता।

---

1. लेर्डजिस्की जिस दिये जा चुके सुझाव का यहां उल्लेख करते हैं, उसमें यह था कि भूमिधर की तरह सीरदार को चूंकि भूमि के हस्तांतरण का अधिकार नहीं है, इसलिए सहकारियां या सरकार उसे ऋण नहीं दे सकतीं। यह खामी हालांकि बाद के संशोधन द्वारा दूर कर दी गई थी।

छोटी तराई और उससे लगा भाभर क्षेत्र ही उत्तर प्रदेश का वह एकमात्र भाग था जहां काश्तकारी की कुछ जटिलताओं के चलते और इस कारण भी कि चरण सिंह के पास पर्याप्त समय नहीं था, 'जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार कानून' तथा 'भूमिधरी योजना' को उनके राजस्व मंत्रित्व वाले कार्यकाल के दौरान लागू नहीं किया जा सका, जिसकी समाप्ति अप्रैल 1959 में हुई थी। न तो राजस्व विभाग का कार्यभार संभालने वाले महानुभाव के पास और न ही 1959-67 की अवधि में राज्य के शासन की बागडोर हाथ में लेने वाले तीन मुख्य मंत्रियों में से किसी एक के पास भी समस्या को सुलझाने की दृष्टि या चाहत थी। चरण सिंह देश की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के प्रति बहुत-कुछ गांधीवादी नजरिया रखने वाले एक दल की स्थापना के उद्देश्य से 1967 में कांग्रेस से अलग हो गये थे।

एक और भी उदाहरण : बड़े शहरों के 'पुरवास' (आसपास वाले क्षेत्र) के घरों में रहने वालों को स्वामित्व के अधिकार दिलाने के लिए उन्होंने एक कानून बनाना चाहा था—और इस दिशा में एक फाइल उन्होंने आगे बढ़ाई थी। ये रैय्यत या दखलकार हालांकि घर और घर में लगी सामग्री के स्वामी थे, फिर भी किसी-न-किसी बहाने या घरों को कच्चे से पक्के बना लेने पर बेदखल किये जा सकते थे या उनके भाड़े में बढ़ोतरी की जा सकती थी। लेकिन यह साधारण-सा सवाल अन-सुलझा रह गया और बातें 1959 में जहां थीं, वहीं-की-वहीं 1967 में भी रहीं।

सिर्फ यही नहीं : पाठक ने अवश्य ही यह देखा होगा कि भूमि सुधारों की दिशा में चरण सिंह द्वारा उठाये गये तकरीबन हर बड़े कदम को कांग्रेस के ही छोटे-बड़े नेताओं के घोर विरोध का सामना करना पड़ा था। जब वास्तविकता सामने आई और उनके अपने ही या उनके वर्ग के हित प्रभावित होने लगे तो कई चोटी के कांग्रेसी नेता—यहां तक कि अपने-आपको 'प्रगतिशील' और 'समाजवादी' कहने वाले, यानी सामान्य कांग्रेसजनों की अपेक्षा दलितों के ज्यादा बड़े हितैषी भी—दलितों के विरुद्ध मोर्चाबंदी करते पाये गये।

चरण सिंह ने बार-बार बताया कि उन्होंने उत्तर प्रदेश में जो भूमि-सुधार प्रस्तावित किये, वे सामाजिक न्याय की मांग को पूरा करने के अलावा लोकतंत्र के बचाव के लिए दीवार का काम करेंगे। उनके राजनीतिक विरोधियों के लिए यह तर्क बहुत कम या बिल्कुल ही असर नहीं रखता था। लेकिन उन कांग्रेसी विधायकों के दवाव के चलते चरण सिंह को अपनी नीतियां कार्यान्वित कराने में कामयाबी हासिल हुई, जो विदेशी शासकों के विरुद्ध संघर्ष के कठिन दौर से गुजर चुके थे। विदेशी शासन को मुख्य समर्थन बड़े जमींदारों—तथाकथित राजाओं और नवाबों—से मिलता था जो बदले में ग्रामीण जनता का निर्ममता से शोषण करते

थे। जैसा कि समय ने सिद्ध कर दिया है, भूमि सुधार ही वह मुख्य कारण है जिसके चलते भारतीय संघ का सबसे बड़ा राज्य उत्तर प्रदेश—जहां की औसत जोत-भूमि सबसे छोटी यानी 1.16 हेक्टेयर है। अपवाद दो छोटे राज्य केरल और जम्मू-कश्मीर हैं, जहां के आंकड़े क्रमश: 0.70 हेक्टेयर और 0.94 हेक्टेयर हैं—कृषिक्षेत्र की अशांति से दूर रहा तथा बावजूद इसके कि राज्य की राजनीतिक और प्रशासनिक अवस्थाएं बदतर रहीं, यहां के देहातों में साम्यवाद अपनी जड़ें जमाने में असमर्थ रहा, जबकि कई दूसरे राज्यों मे उसे कामयाबी मिली है।

चरण सिंह जब संसदीय सचिव या राजस्व मंत्री थे, उस अवधि के दौरान राजस्व विभाग द्वारा लिये गये निर्णय केवल राज्य विधान सभा की बहसों या सचिवालय की फाइलों और सरकारी परिपत्रों तक ही सीमित नहीं रहे बल्कि उन्हें जनता में प्रचारित और वास्तविक रूप से क्षेत्र में कार्यान्वित किया गया था। प्रचार कार्य ने भीतरी इलाकों में अनगिनत सार्वजनिक सभाओं के अलावा ये रूप लिये : भूमिधारी अभियान, नये कानून और अन्य सुरक्षात्मक कदम जो यह सुनिश्चित करने के लिए उठाये गये कि असली जोतदार का नाम किसी भी रूप में राजस्व के खातों में दर्ज है या नहीं, उनकी विस्तृत जानकारी देने के उद्देश्य से प्रशिक्षण शिविर चलाये गये जिनमें सरकारी और गैर-सरकारी दोनों तरह के लोग शामिल थे, पटवारियों की बर्खास्तगी और कम अधिकार वाले लेखपालों की बहाली, भूमि प्रबंधन समितियों के निश्चित दायित्व और अधिकार, चकबंदी और इससे मिलने वाली सुविधाओं आदि की जानकारियां इस उद्देश्य से सुलभ की जा रही थीं कि लोगों को मौजूदा ढांचे में किये जा रहे भारी फेरबदल का पता चले। इसी उद्देश्य से अखबारों में लेखों के प्रकाशन और आकाशवाणी द्वारा वार्ताओं के प्रसारण की व्यवस्था की गई। वस्तुतः हर नये विचार, अवधारणा और योजना को देहातों में पहुंचाया गया।

चरण सिंह द्वारा राजस्व मंत्री के रूप में किये गए विभिन्न जिलों के दौरे तथा उनके तद्विषयक ज्ञान ने जिला अधिकारियों और उन कांग्रेसी कार्यकर्ताओं के लिए भी प्रेरणास्त्रोत का काम किया जिनकी संख्या कांग्रेस के भीतर घुसी काली भेड़ों की अपेक्षा बहुत ज्यादा थी। कोई भी अधिकारी चाहे कितना ही सक्षम क्यों न हो, चरण सिंह की अनदेखी या अपनी मनमानी नहीं कर सकता था; क्योंकि वे नीतियों और सिद्धान्तों के साथ-साथ सम्बद्ध विषय की ब्यौरेवार जानकारी रखने में कुशल थे। कोई भी गलत या गैर-जानकार अफसर उनकी चौकन्नी नजर से बच नहीं सकता था। जो गलती करते थे, उनका चढ़ी हुई भौंहों या नापसंदगी जाहिर करने वाली नजर से सामना होता। गम्भीर मामलों में समुचित दंड दिये जाने की नौबत आती, जिसे ऊंचे-से-ऊंचे पद पर आसीन किसी बाहरी व्यक्ति की पैरवी या मध्यस्थता भी कम नहीं करा सकती थी, न ही बदलवा सकती थी।

फलस्वरूप दंडों की संख्या निम्नतर होती और काम-काज की स्थिति गुणात्मक और संख्यात्मक दोनों ही दृष्टियों से बेहतर थीं।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, राज्य के किसी दूरवर्ती अंचल में अदना-से-अदना व्यक्ति को बेदखल करने के लिए परेशान किये जाने का समाचार जैसे ही मिलता, राजस्व विभाग की पूरी मशीनरी तुरन्त सक्रिय हो उठती थी या सक्रिय बना दी जाती थी। हर तहसील अधिकारी या राजस्व अधिकारी अनुभव करता कि राजस्व मंत्री की निगाहें खास तौर से उसी पर गड़ी हुई हैं।

जब हम कहते हैं कि राज्य की ठोस और रचनात्मक सेवा का चरण सिंह का रिकार्ड बिल्कुल अतुलनीय है, तो हम नहीं समझते कि बढ़ा-चढ़ाकर कहने का दोष हम पर लग सकता है। बजट के लिए धन जुटाना और फिर कोई नई सड़क, कोई नया स्कूल, कोई नया अस्पताल, कोई नया नलकूप, कोई नया कारखाना खोल देने के लिए ज्यादा या जरा भी विशेष बुद्धि लगाने की जरूरत नहीं पड़ती। जबकि कोई नया विचार सोच निकालने, कोई नई योजना की रूपरेखा तैयार करने, कोई नया कानून बनाने, कोई नई व्यवस्था खड़ी करने, किसी पुरानी व्यवस्था को सुधारने, लाखों-करोड़ों लोगों को एक साथ प्रभावित करने वाली समस्याएं सुलझाने और नये मूल्यों को जन्म देने के लिए न केवल बुद्धि की बल्कि कल्पनाशीलता, राजनीतिक कुशलता और मन तथा शरीर को पूरी तरह से प्रयोग में लाने की जरूरत पड़ती है। अप्रैल 1967 से पूर्व की अवधि में इस दूसरी तरह के लगभग सारे काम जो उत्तर प्रदेश में किये गये, उनके मूल प्रेरणास्त्रोत चरण सिंह ही थे।

चरण सिंह का यह सौभाग्य था कि उत्तर प्रदेश में उन्हें राजस्व सचिव के रूप में श्री जहूरूल हसन जैसे योग्यतम आई० ए० एस० अधिकारी तथा भूमि सुधार आयुक्त के रूप में श्री जे० निगम जैसे योग्यतम आई० सी० एस० अधिकारी मिले। वह उनके कठोर परिश्रम, कर्तव्यनिष्ठा तथा दायित्वों के प्रति समर्पण-भाव के लिए, सदैव, उन्हें गर्व और स्नेह से याद करते रहे।

राजस्व सचिव ने अपने कार्यालय को जो नीचे दिया गया आदेश जारी किया था, वह इस तथ्य का एक प्रमाण पेश करता है कि सामने उपस्थित समस्याओं और उनके सम्भावित समाधानों को लेकर, सरकारी नीतियां लागू की जाने की गति और क्षमता को लेकर तथा जिस कल्पनाशीलता से एक नया ढांचा सुनियोजित और रूपायित किया गया था, उसको लेकर चरण सिंह कैसे दिन-रात एक किये हुए थे।

कार्यालय

राजस्व मंत्री चाहते हैं कि निम्न बातों को अभी से प्राथमिकता देते हुए

सारे काम निपटाए जाएं। वह हर मामले में तीन सप्ताह के भीतर हुई प्रगति की रिपोर्ट देखना पसंद करेंगे। वह चाहते हैं कि रिपोर्ट महज औपचारिक न हो जिसमें दिखाया जाता है कि रिपोर्ट के लिखे जाने तक कितना-कुछ किया जा चुका है, बल्कि उसमें निश्चित रूप से यह दिखाया जाना चाहिए कि राजस्व मंत्री द्वारा निर्धारित तीन सप्ताह के दौरान क्या प्रगति की गई :

(1) निम्नांकित क्षेत्रों में 'जमींदारी' का उन्मूलन—
  (क) कुमाऊं डिवीजन के अलावा सरकारी भू-सम्पत्तियां,
  (ख) कुमाऊं डिवीजन की पहाड़ी पट्टियां,
  (ग) परगना जौनसार बावर,
  (घ) रामपुर जिले की सरकारी भू-सम्पत्तियां,
  (ङ) शहरी क्षेत्र,
  (च) टी० एंड बी० और गढ़वाल भाबर सरकारी भू-सम्पत्तियां।
(2) गांवों की अखंडता।
(3) अनुच्छेद 117-ए जे० ए० एल० आर० एक्ट में उल्लेखित क्षेत्रों के सम्बन्ध में स्थानीय अधिकरणों को अधिकार प्रदान किये जाने के बारे में आदेश।
(4) जमींदारी उन्मूलन के फलस्वरूप वन विभाग को प्रदान किये जाने वाले बंजर क्षेत्रों और निजी वनों की मुक्ति में प्रगति।
(5) चकबंदी कर्मचारियों की नियुक्ति।
(6) सर्वेक्षण अमीनों का प्रशिक्षण।
(7) 100 नये कानूनगो और तहसीलदारों की नियुक्ति।
(8) मुआवजा बांड जारी करने में प्रगति।
(9) पुनर्वास अनुदान के भुगतान के लिए एक नई संस्था का गठन।
(10) सकलाना मुआफियों का निपटान।
(11) निजी एजेंसियों द्वारा राजस्व विभाग के फार्मों की छपाई।
(12) ऋणग्रस्त भू-सम्पत्ति (संशोधन) कानून का लागू किया जाना।
(13) उन प्रावधानों को तैयार करने के लिए एक संस्था का गठन, जिन्हें जमींदारी उन्मूलन (कुमाऊं में) सम्बन्धी अध्यादेश में शामिल किया जाएगा।
(14) राजस्व मंत्री के संसदीय सचिव द्वारा अदालत और कार्यालय से सम्बंधित नियमों और निर्देशों का संशोधन तथा राजस्व मंत्री के संसदीय सचिव द्वारा किये गये निरीक्षण के फलस्वरूप कलेक्ट्रेटों में पाया गया आवश्यक कार्य।

(15) जमींदारी उन्मूलन कानूनों की नई बुलेटिन जारी करना।

जहां तक अंत में उल्लेखित विषय का सवाल है, मैं यह कह सकता हूं कि मैंने राजस्व मंत्री से वादा कर लिया है कि उनके कश्मीर से वापस आते ही नये कानूनों की एक प्रति उन्हें तैयार मिलेगी। मुझे उम्मीद है कि कार्यालय वह सब कुछ करेगा जो मेरे वायदे की पूर्ति के लिए जरूरी है।

हस्ताक्षर
(जहूरूल हसन)
12 जुलाई, 1954

चरण सिंह ने जो सार्वजनिक सभाओं में अनगिनत भाषण दिये, अखबारों में लेख लिखे और आकाशवाणी पर वार्ताएं दीं, उनसे ही वे संतुष्ट नहीं थे : बुद्धिजीवी वर्ग के शिक्षण के लिए भी उन्होंने अनेक पुस्तकें और पुस्तिकाएं भी लिखीं। अन्त में कोई भी इस निष्कर्ष पर पहुंचे बिना नहीं रहेगा कि चरण सिंह को दो दशकों से भी अधिक लम्बे समय (1946-67) तक अथक भाव से संघर्षरत रहना पड़ा था, उन 'कुलकों' के विरुद्ध जो कांग्रेसी और यहां तक कि समाजवादी नेतृत्व का नाम ओढ़े हुए थे।

परिशिष्ट

सरकारी सेवाओं में किसान-संतान के लिए ५० प्रतिशत आरक्षण क्यों ?

1931 की जनगणना के अनुसार जो व्यक्ति या अर्जक वास्तविक रूप से रैय्यत या मालिक के रूप में अपनी जमीन पर खेतीबारी करते थे, वे उन श्रमिकों अथवा उन लोगों को छोड़कर जो केवल या मूलतः कृषि लगान पर निर्भरशील थे, प्रदेश के कुल अर्जकों में सबसे बड़े समूह यानी 57.75 प्रतिशत थे। जब खेतिहर श्रमिक भी इसमें जोड़ दिए जाते हैं तो यह आंकड़ा बढ़कर 75.50 प्रतिशत हो जाता है। व्यवसायगत आंकड़े 1931 की जनगणना में एकत्र नहीं किए गए थे, लेकिन यह मान लेने का कोई कारण नहीं कि 1931 के बाद से इसके अनुपात में कोई भारी बदलाव आया है। इसलिए, ये खेतिहर किसान ही हैं जो संयुक्त प्रान्त (उत्तर-प्रदेश) की जनता—विशाल जनसमुदाय—कहलाने के अधिकारी हैं। सरकार के सारे विभाग जनता के ही हितों की देख-रेख की दृष्टि से बनाए गए हैं। आबादी में उनके इस अत्यधिक प्रतिशत को देखते हुए कोई भी यह अपेक्षा रख सकता है कि संयुक्त प्रांत की सरकारी सेवाओं में खेतिहरों के बेटे ही बड़ी तादाद में लगाए जाएं अथवा सरकारी सेवाओं में उनकी संख्या कम-से-कम पूरी आबादी में उनके बल को तो प्रतिबिम्बित करे ही। लेकिन यह वस्तुस्थिति से कहीं दूर की बात है, माता-पिता या अभिभावकों के पेंशे के अनुसार सरकारी कर्मचारियों की संगणना के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है, लेकिन बिना प्रतिवाद की आशंका के निश्चितता के साथ कहा जा सकता है कि जो सेवाएं या तो जोखिम वाली हैं या बहुत ही कम वेतन वाली हैं, उनका अनुपात किसी भी तरह से 10 प्रतिशत से ज्यादा नहीं है। अर्ज यही है कि इस स्थिति को पूरी तरह से बदला जाना है।

आंकड़ों पर आधारित तर्क का उल्लेख किया जा चुका है। फिर भी मैं जिसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण और विचारणीय समझता हूं, वह है किसान और उन वर्गों के

बीच सहानुभूतियों और हितों में टकराव की स्थिति का मौजूदा होना, जिन्होंने अब तक सरकारी सेवाओं में अफसरों और अन्य पदों की आपूर्ति की है। किसी आदमी के विचार काफी हद तक उसके आसपास के वातावरण से बनते और नियंत्रित होते हैं। शिक्षा से उसके वास्तविक विचारों में अगर अन्तर आता भी है तो बहुत कम आता है, बल्कि यह उनकी पुष्टि ही करती है। उसके माता-पिता, उसका परिवेश, उसका व्यवसाय, उसका पिछला पेशा, उसके वर्तमान मित्र, परिचय और नाते-रिश्ते—ये ही कुल बातें हैं जो जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण को निर्धारित करते हैं। 'किसी मनुष्य का सामाजिक दर्शन' में साइमन हैरी लिखते हैं···"दर्शन उन्हीं लोगों का होता है जिनके बीच वह रहता है। अनुदार दल (कंजरवेटिव पार्टी) का कोई सांसद लिमिटेड कम्पनियों के डाइरेक्टरों, अपने ही विशिष्ट क्लबों के बराबरी वाले समृद्ध सदस्यों तथा शिकार और निशानेबाजी के शौकीन मित्रों के साथ सम्पर्क रखता है। उसकी जीवनशैली इस बात की गुंजाइश नहीं रहने देती कि वह साधारण लोगों की वास्तविक समस्याओं को समझ सके : उसके राजनीतिक विचार उस वर्ग के हितों को प्रतिबिम्बत करेंगे ही जिससे वह आता है।" (देखें: 'टोरी एम० पी०', पृष्ठ 193)

हमारे देश में जिन वर्गों के वंशज सार्वजनिक सेवाओं पर प्रभुत्व रखते हैं, वे या तो साहूकार, बड़े जमींदार या ताल्लुकेदार, आढ़तिया या व्यापारी जैसों के ब्रिटिश लोगों द्वारा 'लाजवाब ढंग से प्रमुख और महत्त्वपूर्ण बना दिए गए' वर्ग हैं, अथवा कहा जाए तो वकील, डॉक्टर, ठेकेदार कहलाने वालों के वर्ग। इन वर्गों ने पिछले दो सौ वर्षों के दौरान विदेशियों की मातहती में उन्हीं के सहयोग के बल पर हर तरह से यहां की जनता का शोषण किया है। इन वर्गों के विचार और हित इसीलिए कुल मिलाकर घोषित रूप से सामान्य जनता के विचारों और हितों के विरुद्ध जाते हैं। गैर-खेतिहर शहरी वर्गों के सदस्य का सामाजिक दर्शन उससे बिलकुल भिन्न होता है जो खेतिहर ग्रामीण वर्गों के किसी व्यक्ति का हो सकता है।

विधि आयोग को पंजाब एसोसिएशन द्वारा दिए गए एक ज्ञापन में बल देकर यह कहा गया है कि "भारत में एक तरफ किसान वर्गों और दूसरी तरफ शहरों-कस्बों के व्यापारी वर्गों के बीच एक बहुत ही चौड़ी दरार विद्यमान है।" फिर यथासम्भव पूरा जोर डालते हुए इसमें कहा गया है कि "शहरी मध्यमवर्ग, जिसमें उससे मिलता-जुलता साहूकार वर्ग भी शामिल है, की कृषक वर्गों के साथ किसी भी तरह की सहानुभूति नहीं है तथा यह कि दोनों वर्गों के हित पूरी तरह से एक-दूसरे के विरुद्ध जाते हैं। शैक्षिक योग्यता प्राप्त शहरी मध्यम वर्ग कृषक वर्ग को नीची निगाह से देखते हुए सोचता है कि वह तो महज जमीन जोतने वाला, अन्न पैदा करने वाला, राजस्व की आपूर्ति करने वाला तथा कानून के भीतर ही रहने

वाला है जिसका हर तरह से शोषण होना है।" ज्ञापन की भाषा कइयों के कानों को कुछ कठोर और रूखी लग सकती है, लेकिन यह तथ्य छिपाने से कोई लाभ नहीं कि शहरी लोग किसानों पर अपने बड़प्पन का रौब गांठते है। पंजाब एसोसिएशन का आकलन सही है, इस तथ्य की पुष्टि दूसरे ही दिन हो गई जब मैं संयुक्त प्रांत के बड़े शहर के विधायक के साथ सरकारी नौकरियों में कृषकों को ज्यादा प्रतिनिधित्व दिए जाने के अपने प्रस्ताव के बारे में चर्चा कर रहा था, जिस पर तुरन्त प्रतिक्रिया के तौर पर उन्होंने सवाल दागा—"तो फिर जमीन कौन जोतेगा?" यह तो रोज-रोज देखने की बात है कि शहर में पैदा हर गैर-कृषक आदमी गांवों के अपने ही देशवासियों को 'देहाती', 'गंवार' या 'दहकानी' उसी तिरस्कारपूर्ण लहजे में कहता है जैसे स्वर्गजात यूरोपियन बिना किसी भेदभाव के हम सभी भारतवासियों को 'नेटिव' या 'निगर' कहते हैं, या कहा करते थे।

इस सच को स्वीकार किया जाना है कि जिस वातावरण में देहात के लोग काम करते और रहते हैं, वह शहर से सर्वथा भिन्न है। कृषि "एक खास तरह के नागरिक, एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति और विशिष्ट जीवनशैली को" जन्म देती है जो किसी अन्य उद्योग या व्यवसाय की देन से बिलकुल अलग होती है। 'क्योंकि कृषक', काउन्ट रिसर्च काउन्डेनहोव कालेर्गी अपनी पुस्तक 'टोटेलिटेरियन स्टेट एगेन्स्ट मैन' में कहते हैं, "पशुओं और वनस्पतियों के साथ सहजीविता की स्थिति में प्रकृति के बीच, प्रकृति के साथ और प्रकृति के द्वारा रहता है। इसी कारण उसकी दुनिया की तस्वीर प्रकृति से दूर रहने वाले नगरवासी की तस्वीर से बुनियादी तौर पर भिन्न होती है जो तरह-तरह की मशीनों के बीच अपने दिन गुजारता है और अक्सर खुद आधी मशीन होकर रह जाता है। किसान की गति मौसमों की तरह धीमी होती है, मोटरकारों की तरह तीव्रगामी नहीं। दुनिया और दुनिया की चीजों के प्रति उसका दृष्टिकोण जैविक होता है, यांत्रिक नहीं।"

इसलिए किसानों से भरे देश में ज्यादा कामयाब प्रशासक या कानून का व्याख्याता वही हो सकता है जिसने देहाती वातावरण का लाभ उठाया हो और कृषक-जीवन के तीखे अनुभव का स्वाद लिया हो, क्योंकि उसके जीवन-मूल्य किसी अन्य की अपेक्षा उन लोगों के साथ कहीं ज्यादा मेल खाएंगे जिनके मामले निपटाने के लिए वह नियुक्त होगा। केवल वही किसी ग्रामवासी की मानसिकता और जरूरतों को समझ सकता है। उसे किसान के अभिप्राय-स्रोतों का पता होता है और देहाती जीवन के पिछड़ेपन के प्रति वह सजग होता है। इस समय ज्यादातर नगरवासियों या दुकानदारों, साहूकारों या वकीलों और डॉक्टरों, बड़े ताल्लुकेदारों और वार्षिक वृत्तिभोगियों के बेटे ही श्रेणीबद्ध सरकारी सेवाओं में हैं, जो यदि पूरे मन से चाहें भी तो इस कृषिप्रधान प्रदेश में आम लोगों के हितों की देख-रेख नहीं कर सकते। इन वर्गों में से लिया गया कोई अफसर आम आदमी के जूते

में न तो समा सकता है और न ही यह अनुभव कर सकता है कि जूता कहां काट रहा है। बल्कि उसके सारे हित और सहानुभूतियां दूसरी तरफ होगी, वे अचेतन रूप से उसके विचार को उसी वर्ग के पक्ष में ले जाएंगी जिससे वह खुद आया है, और अपने अधिकार का उपयोग वह उसी की बेहतरी के लिए करेगा। मानव प्रकृति पर यह बहुत ही ज्यादा जोर डालना होगा अगर ऊपर वाले वर्गों से आए किसी अफसर या विधायक से अपेक्षा की जाए कि उन समस्याओं पर सही नजरिया रखे जिनके सही समाधान का मतलब उन्हीं वर्गों को खत्म कर देना या बुरी तरह प्रभावित करना हो, जिनसे वह खुद आया है। मेरी यह धारणा संयुक्त प्रान्त के शिक्षा मन्त्री माननीय श्री सम्पूर्णानन्द के इस विचार से परिपुष्ट हुई है:

'न्यायाधीशों और विधायकों को', वह कहते हैं, 'जान-बूझकर पक्षपाती होने की जरूरत नहीं है, मनुष्य होने के नाते उन्हें उन सीमाओं से आगे जाना लगभग असम्भव लगेगा जो उनके वर्ग-सम्बन्धों और सामूहिक हितों ने उन पर थोपी है।" (देखें: 'दि इंडीविजुअल एण्ड द स्टेट', पृष्ठ 121-122)

जिन लोगों को कानूनी अदालतों का कोई तजुरबा है, वे अच्छी तरह जानते होंगे कि न्यायिक अधिकारियों के विचार और आचरण में क्या अन्तर होता है—समाज के उन वर्गों के अनुसार ही जिनसे वे आते हैं। एक जैसी परिस्थितियों वाले मुकदमे में किसी साहूकार या ताल्लुकेदार परिवार से आए न्यायाधीश की प्रतिक्रिया उस न्यायाधीश की प्रतिक्रिया से काफी भिन्न होगी, जो किसान परिवार से सम्बन्ध रखता होगा। देखने के लिए जिनके पास आंखें हैं वे 'द पंजाब पीजेन्ट इन प्रास्पेरिटी एण्ड इन डेब्ट' (डार्लिंग, 1932) के लेखक के साथ उस तबाही पर अवश्य ही विलाप करेंगे जो उन दीवानी अदालतों द्वारा लाई गई थी जिनकी अध्यक्षता ऐसे लोग कर रहे थे जो "ज्यादातर शहरों में पैदा हुए थे, जिनकी गांव के बारे में जानकारी बहुत कम थी और अगर वास्तविक रिश्तेदारी से नहीं तो जाति से साहूकारों के साथ जुड़े हुए थे।" कानूनी अदालत में, खास तौर से लेन-देन वाले मुकदमे में किसान पाता है कि तुलादंड भारी वजन से उसके विरुद्ध झुका हुआ है। सचमुच ही गैर-कृषकों ने अपने निजी हितों को सबसे ऊपर रखा है। मैं अपनी इस बात को एक ब्रिटिश पत्रिका से लिए गए उद्धरण द्वारा और भी बल प्रदान करूंगा:

"यह तेजी से स्वीकार किया जाने लगा है कि अगर न्यायाधीशगण सन्तोषजनक ढंग से अपना काम करने के लिए हैं तो न केवल उन्हें उस कानून का अच्छा ज्ञान हो जिसकी वे देखभाल करते हैं, बल्कि उन्हें उन

लोगों की कठिनाइयों और समस्याओं का अहसास भी हो जिनके मामले वे निपटाते हैं। यह कहा जाता है कि कृषि प्रधान जिले से आए न्यायाधीशों की न्यायपीठ खदान वाले शहर या औद्योगिक केन्द्र की स्थितियों को समझ पाने में असमर्थ रहेगी और इसी तरह शहरी लोग कृषि समुदाय की समस्याओं की गुरुता को समझ नहीं पाएंगे।"

ऊपर दिए गए निष्कर्ष गैर-न्यायिक अफसरों के लिए भी उतने ही सच हैं। अगर कोई पिछले रिकार्डों को देखने की जहमत उठाए तो सूखा या आंधी-तूफान या बाढ़ से मची तबाही के अवसरों पर नहर विभाग और राजस्व विभाग के अफसरों द्वारा छूट के आकलनों में उसे साफ भेद दिखाई देंगे—कृषि और गैर-कृषि वर्गों के मुताबिक, गैर-कृषि वर्गों से आए अफसरों के पास खेतिहर की दुर्दशा का अहसास कराने वाली अन्तर्दृष्टि ही नहीं। उनका आर्थिक पूर्वाग्रह उनकी पूरी मानसिक संरचना—सही तस्वीर प्रस्तुत करने की राह में बाधक बन जाता है। कृषि विभाग का एक कारण इस तथ्य में निहित है कि इसमें ज्यादातर ऐसे ही लोग अफसर हैं जिनका पीढ़ियों से कृषि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहा, विभाग में आने से पहले गांव के किसान की जिन्दगी जिनके लिए एक बन्द किताब की तरह थी। इसीलिए वे अक्षम कृषक, कल्पनाहीन संगठन और सहानुभूतिरहित अफसर होकर रह गए। कृषि विभाग में ऐसे भी अफसर हैं जो जौ और गेहूं के पौधों मेंअंतर नहीं कर पाते और उधर नहर विभाग के वे अफसर हैंजिन्हें पता नहीं कि किसी खास फसल को कितनी बार और कब सिंचाई की जरूरत पड़ती है। सहकारिता और ग्राम विकास विभाग की सभी शाखाओं और उनकी गतिविधियों का मामला भी इसी से मिलता-जुलता है। यह देखकर और दुःख होता है कि 1937 में कांग्रेस मंत्रिमंडल के उदय के बाद भी इस मामले में कोई सुधार नहीं हुआ। अगर हम यह अच्छी तरह समझ लें, जल्द समझें तो बेहतर कि देहात में अपनी जड़ें रखने वाले लोग ही इन और अनेक अन्य विभागों को उतना सफल बना सकते हैं जितना कि इन्हें होना चाहिए, कि सार्वजनिक नियोजन के लिए उम्मीदवार की ग्रामीण जिन्दगी में कितनी दिलचस्पी है, यही वह बुनियादी सिद्धान्त हो जिसके आधार पर उसका चयन निर्भर होना चाहिए तथा किसी पद की पात्रता पर निर्णय लिया जाना चाहिए। न्याय और सहकारिता मंत्री माननीय डॉ० कैलाशनाथ काटजू द्वारा प्रस्तुत 'संयुक्त प्रान्त के लिए सहकारिता योजना' की रूपरेखा पर टिप्पणी करते हुए श्रीधर मिश्र ने 29 दिसम्बर 1946 के 'लीडर' में लिखा है :

अंततः यह कहा जा सकता है कि सहकारिता कर्मचारियों की भर्ती की

पद्धति में भी भारी परिवर्तन की जरूरत है। शहरी 'साहब' लोग गांव में अगर गए भी होंगे तो सिर्फ पिकनिक मनाने या स्थल-विशेष देखने गए होंगे। वे चाहे कितनी भी ऊंची योग्यता रखते हों, गांव के लोगों की कठिनाइयों को नहीं समझ सकते और न ही उनका समर्थन या विश्वास जीत सकते हैं जो कि देहाती क्षेत्र में सामाजिक सुधारक के लिए एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण और अत्यावश्यक शर्त है। इसलिए चयन पूरी तरह से उन लोगों में होना चाहिए जो ग्रामीण क्षेत्र से सम्बद्ध रखते हों और वहां की जिन्दगी से जुड़े हों। ये ही वे लोग हैं जो ग्राम पुनर्गठन के किसी आन्दोलन के प्रति उपेक्षा या सन्देह के भाव उगाए बिना ग्रामीण इलाकों में अपने प्रभाव ज़मा सकते हैं।

मैं सोचता हूं कि लोगों के विचार औसत तौर पर उनकी आय के स्रोतों पर निर्धारित होते हैं, यह बात तभी पूरी तरह से स्थिर हो जाती है जब कहा जाता है कि पिछली पंजाब विधान सभा में कांग्रेस पार्टी के सभी सदस्यों ने, जिनमें से लगभग सारे शहरी हितों या गैर-कृषि वर्गों का प्रतिनिनित्व करते थे, मौलाना अबुल कलाम आजाद के स्पष्ट निर्देशों के बावजूद बंधक भूमि प्रत्यर्पण विधेयक और कृषि विपणन विधेयक का समर्थन करने से इंकार कर दिया था। टिप्पणी करना बेकार है, मैं यह पाठकों पर ही छोड़ता हूं कि वे उनके इंकार के कारणों के बारे में अटकल लगाएं। जब एक ऐसे युग में जिसमें हमारे नेता जी-जान से ग्रामीणों में नवजीवन का संचार करने में लगे हुए हैं और जबकि 'किसानों और मजदूरों का राज' की स्थापना हमारे सारे राजनीतिक कार्य का लक्ष्य है, इस तरह का आचरण उन लोगों का है जो समाजसेवी होने का दावा करते हैं, जो अपने को कांग्रेसी कहते हैं, तो हम उन साधारण लोगों से क्या अपेक्षा रख सकते हैं जो न तो सामाजिक कार्यकर्त्ता हैं न ही कांग्रेसी और जाहिरा तौर पर जिनका जीवन लक्ष्य है खुद को बढ़ाना और चेतन या अचेतन रूप से अपने समूह की सहायता करना ? मार्क्स ने यह विचार फैलाया था कि राज्य पर नियंत्रण रखने वाला वर्ग हमेशा अपने निजी हितों में अपनी शक्ति का प्रयोग करेगा। हालांकि यह विचार चरम सिद्धान्त के रूप में अनौचित्यपूर्ण है, फिर भी सत्य का काफी बड़ा अंश इसमें निहित है।

यह कथन स्वतःसिद्ध है कि किसी सरकार की नीति और निश्चयों को केवल इच्छुक साधनों के जरिए ही लागू किया जा सकता है जो स्वयं ऐसी अन्तर्भावना से परिचालित होते हैं जिससे सरकारी प्रयासों को प्रेरणा मिलती है, क्योंकि महत्त्व हमेशा अन्तर्भावना का होता है, शब्द का नहीं जिसे आसानी से तोड़ा-मरोड़ा जा सकता है। अपनी सूझबूझ से निर्णय लेने के अधिकार को आप परिपत्रों द्वारा चाहे

जैसे भी और जितना भी सीमित करें या नियमों और अनुच्छेदों के जरिए नियंत्रित रखने के तरीके अपनाएं, वह काफी हद तक एक अफसर के पास हमेशा रहेगा। और यह एक तत्काल मान लेने योग्य बात होगी कि स्व-विवेक सिर्फ सम्बद्ध अफसर की मानसिकता और वैयक्तिक साम्यता से परिचालित होगा—अवश्य ही मैं यह दुहराना चाहूंगा कि कुछ मान्य अपवादों को छोड़कर इस तरह के झुकाव आगे चलकर जाने या अनजाने खुद उसके या उसके समूह के हित द्वारा निर्धारित होने लगते हैं। और मैं यह कह दूं कि यही व्यक्तिगत और वर्गगत साम्यता पहले भी और आज भी विभिन्न राज्यों द्वारा जनता को राहत पहुंचाने या उसे केंचुली से बाहर निकलने में मदद करने के उद्देश्य से बनाए गए कई लाभकारी प्रावधानों और योजनाओं की व्यर्थता के लिए जिम्मेदार रही है। इसीलिए सरकार को चाहिए कि वह ऐसे ही प्रतिनिधि या एजेन्ट नियुक्त करे जो विश्वस्तता के साथ जनता की आकांक्षा को व्याख्यायित कर सकता हो, यानी इस कृषिप्रधान प्रदेश में ग्रामीण मानसिकता वाले अफसरों और कर्मचारियों की भर्ती आज की अपेक्षा कहीं ज्यादा बड़ी तादाद में की जाए।

अगर सार्वजनिक सेवाओं में ग्रामीण तत्त्व को पर्याप्त बल प्रदान किया जाता है तो इससे न केवल प्रदेश के प्रशासन को वांछित रूप से चलाया जा सकेगा, बल्कि आगे चलकर इसकी क्षमता में भारी वृद्धि होगी और ऐसा स्वस्थ आभामय वातावरण बनेगा जो किसी और उपाय से सम्भव नहीं। अपने आसपास के जिस वातावरण में किसान का बेटा पलता-बढ़ता है, वह उसे धैर्यशीलता, आंतरिक स्थिरता, दृढ़ मनोबल और ऐसी प्रशासनिक क्षमता प्रदान करता है जिन्हें निखारने या विकसित करने का कोई अवसर गैर-कृषक या शहरी आदमी के बेटे को सुलभ नहीं होता। कृषि एक ऐसा धन्धा है जिसमें प्रकृति से सामना होते रहने के कारण किसान को रोज सहनशीलता और धैर्य का सबक मिलता है और उसके भीतर कठोर श्रम झेलने की क्षमता विकसित होती है, यानी वह चारित्रिक गुण जो किसी अन्य धन्धे में लगे व्यक्ति के लिए सुलभ नहीं होता। इसीलिए किसान के बेटे के पास कोई निर्णय लेने की वह क्षमता और दृढ़ता होती है जिसका गैर-कृषक में बहुधा अभाव होता है। संकट की स्थिति में उसके हाथों और दिल में कंपकंपी नहीं होती जैसा कि शहर के नाजुक मिजाज व्यक्ति के साथ अक्सर होता है। किसान का बेटा सिर्फ आदेश जारी कर ही निश्चिन्त नहीं होता बल्कि ईमानदारी और समुचित उत्साह के साथ उन्हें लागू कराता है, क्योंकि वह शहरी वर्गों से आए अपने साथी अफसरों की अपेक्षा ज्यादा सीधा-सादा और कम आडम्बर वाला और कम आरामपसन्द होता है। उसे पता नहीं होगा कि धोखाधड़ी कैसे की जाती है या कम-से-कम इसे सफलतापूर्वक कैसे किया जा सकता है, क्योंकि उसके पिता (इसलिए कि वंशानुगत आधार को बिलकुल नकारा नहीं जा

सकता) और वह खुद बचपन में ऐसे लोगों के साहचर्य में पले-बढ़े जो धरती, पौधों और पशुओं तक के साथ झूठ नहीं बोलते थे, जबकि गैर-कृषक और उसके बेटे को जीविकोपार्जन के क्रम में तकरीबन ऐसे ही लोगों से सम्बन्ध रखना पड़ता था जो एक-दूसरे से आगे बढ़ जाने की होड़ लगाए रहते और दुर्भाग्यवश, आपस में झूठ बोलते और छल करते थे। फिर, किसान का बेटा शायद शहरी आदमी की अपेक्षा भ्रष्टाचारी होने की कम गुंजाइश रखता है, क्योंकि उसका जीवन-स्तर अपेक्षाकृत निम्नतर और औसत जीवन-स्तर के ज्यादा करीब होता है तथा इसीलिए शहरी जीवन के आरामदेह वातावरण में पले आदमी की अपेक्षा उसे कम पैसे की जरूरत होती है। किसी तर्क को जीतना कठिन हो सकता है, लेकिन स्वस्थ आलोचना के स्वर को उस प्रसिद्ध अमेरिकी 'बिजनेसमैंस कमीशन ऑन एग्रीकल्चर' (कृषि का व्यवसासियों का आयोग) की नीचे दी गई राय से शांत हो जाना चाहिए जिसके सदस्यों में, जैसा कि नाम ही बताता है, एक भी कृषक नहीं था :

"सामाजिक दृष्टिकोण से ग्रामीण जीवन में वह अन्तर्निहित शक्ति है जो कहीं और नहीं मिल सकती। यह शायद स्पष्टतः साबित नहीं हुआ है कि जो मानवीय सामाजिक तत्व ग्रामीण परिवेश में विकसित होता है, वह शहर से निकलने वाले तत्व की अपेक्षा बेहतर किस्म का है, यद्यपि इस आशंका के कारण हैं कि यही सच है।" (पृष्ठ 152)।

मैं यहां एक और अकाट्य प्रमाण पेश करूंगा, जैसे :

"लंदन में देहाती आबादी के लगातार आगमन पर अपने अध्ययन के फलस्वरूप सर नियुलिन स्मिथ ने आधी शताब्दी से भी ज्यादा पहले यह बताया था कि कुल मिलाकर वे लोग शरीर से बहुत ही तगड़े हैं जो देहात को छोड़कर शहर आते हैं और उनकी बहुमूल्य मानसिक क्षमताएं इस तथ्य की ओर संकेत करती हैं कि देहात में पले लोगों को लंदन में बहुधा ऐसे 'नियोजन' के लिए तरजीही दी जाती है जिसमें 'विशेष प्रकार की स्थिरता' की अपेक्षा रहती है और जिसके साथ 'विशेष दायित्व' जुड़े होते हैं।

"देहाती तत्त्व का प्रवाह जारी रहने से लंदन स्वस्थ और तगड़ा बना हुआ है...यह बड़े शहर की जिन्दगी के हालात का परिणाम है कि पेशियों के बल और ऊर्जा की खपत हो जाती है, पहली की अपेक्षा दूसरी पीढ़ी के लंदनवासियों का शारीरिक गठन निम्नतर है और लगातार काम करने की क्षमता घटी हुई है।" (देखें : विलियम ऐश्ले द्वारा जुलाई 1923 में 'ब्रिटिश एग्रीकल्चरल ट्राइब्यूनल

ऑफ इन्वेस्टिगेशन' को दिया गया ज्ञापन 'कंसीडरेशन ऑफ नेशनल हेल्थ')

एक दूसरा तर्क भी : यह धरती को जोतने वाला ही है जो करों का बोझ झेलता है। सम्पत्ति का लगभग एकमात्र उत्पादक होने के नाते कर भी अंतत: उसी पर लगते हैं। जहां तक प्रत्यक्ष कर की बात है, उसे लगान या भू-राजस्व और नहरी बकाये राज्य को चुकाने पड़ते हैं, उसके पास अधिक-से-अधिक 5 बीघा जमीन हो और उपर्युक्त बकाये चुकाने के बाद फालतू कुछ भी न बचे। दूसरी तरफ एक गैर-काश्तकार सिर्फ एक केन्द्रीय कर चुकाता है, वह भी तब जब उसकी सालाना आय 2,000 रुपये से आगे चली जाए। दोनों के बोझ में अन्तर इतना स्पष्ट है कि विस्तार में जाने की जरूरत नहीं। फिर भी यह घोर विषमता बहुत गम्भीर हो उठती है जब कोई यह अनुभव करता है कि रुपये का जो सबसे बड़ा भाग किसान की जेब से आता है, वह ऐसे युवकों को वेतन देने में खर्च हो जाता है जो उसके अपने नहीं हैं। इस तरह किसान के खेत की नमी सोख ली जाती है जो बजाए इसके कि उसकी कुटिया और गांव में लौटती, शहरों पर एक तरह से उर्वरशील बरसात बन जाती है। तो फिर यह दावा करना वाहियात होगा कि किसानों से उगाहे गये करों का कम-से-कम एक भाग तो उनके लड़कों के वेतन के रूप में उन्हें लौटा दिया जाए!

किसानों के बेटों के लिए सार्वजनिक नियोजनों में आरक्षण को उनके शैक्षणिक पिछड़ेपन के आधार पर भी उचित ठहराया जा सकता है, जिसके लिए खुद किसान नहीं बल्कि राज्य या समाज जिम्मेदार है। प्राथमिक के अलावा अन्य सारे शिक्षण संस्थान शहर में हैं और जहां कम-से-कम माध्यमिक स्तर तक नि:शुल्क शिक्षा सरकार की चिन्ता का विषय होना चाहिए, वहीं शहरी संस्थानों में इतने अधिक शुल्क लिये जाते हैं और छात्रावास का खर्च इतना अधिक होता है कि उसे वहन करना उस गरीब किसान के वस से बाहर की बात हो जाती है जो मुश्किल से अपने शरीर और जीवन की रक्षा कर पाता है। इन संस्थानों में दाखिला भी ग्रामीण क्षेत्रों से आये लड़कों को तभी मिल पाता है जब सारे शहरी लड़के दाखिल कर लिये जाते हैं। राजकीय कृषि महाविद्यालय, कानपुर जैसे संस्थान भी इसके अपवाद नहीं, जो खास तौर से ग्रामीणों या किसानों के हितों की देखरेख के लिए बने हैं।

क्यों? और यही हमें एक दूसरी दलील तक भी ले जाती है जो ऐसे आरक्षण के पक्ष में पेश की जा सकती है, जैसे कि 100 में से 90 प्रतिशत मामलों में संरक्षण के अधिकार शहरी या गैर-कृषकों के हाथों में हैं, सभी महत्त्वपूर्ण संस्थान ऐसे लोगों के हाथों में केन्द्रित हैं जिनका किसानों के साथ कोई नाता या दिलचस्पी नहीं है। दानशीलता हमेशा घर से शुरू होती है, जिन्हें दूसरों की सहायता करने का अधिकार है, वे पहले उनकी सहायता करेंगे जिनके साथ उनका खून का रिश्ता

है या आर्थिक हित जुड़े हैं। नतीजा यह है कि ग्रामीण के बेटे को नौकरी पाने के लिये इस तरह की सुविधाएं नहीं हैं और ऐसे मामले कम नहीं होते जहां उससे कम योग्यता वाले को नौकरी मिल जाती है, क्योंकि ग्रामीण का बेटा ऊंचे-से-ऊंचे पद पर आसीन व्यक्तियों की सिफारिशें नहीं जुटा पाता। अत: खुले दरवाजे वाली मौजूदा नीति ज्यादातर मामलों में कोई अर्थ नहीं रखती, इसे तथ्यों से कोई वास्ता नहीं और इसे खत्म ही होना है।

ऐसे ही कारण हैं कि मैं उस वर्ग के हित में आरक्षण की बात पर जोर देता हूं जिन्हें राज्य के प्रशासन में उसकी अपेक्षा कहीं कम भागीदारी मिली, जो उन्हें मिलनी चाहिए थी और जिनके मामले में आज तक गलती की जा रही है।

जो लोग इस प्रस्ताव के विरोध में हैं वे कह सकते हैं कि खेतिहर वर्ग चूंकि मुख्यत: वंशानुगत आधार पर बनी कुछ जातियों के मेल से गठित है, इसलिए इससे तो एक और तरह का साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व देने जैसी बात हो जाती है—एक ऐसी बुराई जिसको प्रश्रय देने के बजाए कमजोर किया जाना है। इस प्रस्ताव को 'साम्प्रदायिक' कहना हालांकि जान-बूझकर लोगों को बहकावे में डालने का प्रयास है। उन लोगों की तरफ से तो विरोध का कोई स्वर उठता नहीं जिनका आज सार्वजनिक सेवाओं पर एकाधिकार है। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व सिर्फ वही है जो धर्म या जन्म से जानी जाने वाली जाति पर आधारित होता है। अगर कोई चाहे तो इसे व्यावसायिक, कार्यकारी या पेशागत प्रतिनिधित्व कह सकता है, लेकिन किसी भी तरह से साम्प्रदायिक नहीं। आदमी जब तक आदमी है, एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के बीच विचार-भेद हमेशा रहेगा। वर्गों या समूहों का भिन्न-भिन्न आर्थिक कार्यों में लगे रहना मानव समाज की एक अनिवार्य शर्त है, मानव जाति को सभी मामलों में बिलकुल एकरूप कभी नहीं बनाया जा सकता, न ही इस प्रकार की एकरूपता लाने का प्रयास वांछनीय है। फिर भी यह बात हमारे कहने की है कि हमारे राज्य या देश के सामाजिक या प्रशासनिक ढांचे में आदमी और आदमी के बीच जानने या पहचान करने का आधारभूत तत्त्व धर्म या जन्म होगा या कि उसका धन्धा और आर्थिक हित। जन्म पर आधारित जाति के दिन लद चुके हैं, इसे खत्म किया ही जाना है। मूलत: तिरस्कृत जाति तक का निर्धारण पेशे (प्रवृत्ति और खूबियां) के आधार पर किया जाता था, यह तो बहुत बाद में हुआ कि वह रूढ़िबद्ध हो गया और जन्म तक सीमित रह गया। यह सामान्य देखने योग्य बात है कि जाति का विचार किए बिना यदि लोगों को एक जैसे पेशे में या एक जैसी जीवन-स्थितियों में डाल दिया जाए, तो उनकी प्रतिक्रिया लगभग एक जैसी होगी और समान आर्थिक जुड़ावों के चलते उनके भीतर भी वही मानसिकता विकसित होगी जो किसी पेशे के लिए आम होती है। चाहे जैसे भी हो; जो लोग कम-से-कम वर्ग-संघर्ष में यकीन रखते हैं और हमेशा शोषकों के

विरुद्ध किसानों और मजदूरों के अधिकारों की वकालत करते हैं, उन्हें इस प्रस्ताव समेत ऐसे सभी कदमों का समर्थन करना चाहिए जो आम लोगों के हितों को सुरक्षा प्रदान करने वाले हों। विभेदीकरण जन्म के बजाए पेशे से होने पर आधुनिक शक्तियों के कार्यों में गतिशीलता आती है। समाजवाद की दुहाई देने वाले शंकालुओं को शांत करने के लिए मैं सोवियत रूस का उदाहरण दे दूं। जून 1931 तक बुद्धिजीवियों, इंजीनियर, चिकित्सक, कॉलेज के प्रोफेसर, स्कूल अध्यापक के भी बच्चों को हालांकि उनके माता-पिता सरकारी सेवा में थे और नागरिक अधिकार उन्हें प्राप्त थे, विश्वविद्यालयों में दाखिला किसानों और कारखानों के मजदूरों का कोटा पूरा हो जाने के बाद ही मिलता था। (देखें : 'द ग्रेट ऑफेन्सिव', 1933, लेखक : मॉरिस हिंडस)

चाहे जैसे भी हो, यह व्यवहारिक नहीं है और न ही किसी न्यायसंगत तरीके से इसे उचित ठहराया जा सकता है कि लोक प्रशासन पर कुछ गैर-कृषक वर्गों के सदस्यों या शहर में रहने वालों का एकाधिकार रहे। लोकतंत्र का मतलब हर जगह आम लोगों की सरकार है न कि कतिपय भारत की तरह वंशपरम्परागत शासक जातियों या वर्गों, हिन्दुओं या मुसलमानों का प्रभुत्व। इसीलिए विभिन्न आर्थिक और सामाजिक क्रियाशीलताओं वाले विभिन्न वर्गों के दावों का समानता के आधार पर समन्वय होना चाहिए, नहीं तो कटुता बनी रहेगी और बढ़ती जाएगी।

आलोचक टोक सकता है कि अगर आप सरकारी नौकरियों में किसानों के लिए आरक्षण की बात करते हैं तो बढ़ई, बुनकरों आदि के लिए क्यों नहीं? यह आलोचना उपहास की उपज है। प्रशासनिक सुविधा का सिद्धान्त सुनिश्चित और सभी प्रकार के तथ्यों और स्थितियों में लागू होने योग्य है; कोई भी ऐसा नहीं है जिसे इसका उल्लंघन करने पर हास्यास्पद स्थितियों में नहीं लाया जा सके। और, ग्रामीण या कृषक वर्ग के हित के लिए आरक्षण की वकालत जो यहां की जा रही है, वह इस सामान्य नियम का अपवाद नहीं है। ये किसान ही हैं जो जनता—प्रजा—का रूप लेते हैं और सरकारी खजाने को भरते हैं और अगर रजामंद रहें तो किसी को भी दुःख नहीं पहुंचा सकते। बाकी सभी लोग बचे हुए 50 प्रतिशत में अपने अवसर तलाशें। बल्कि मैं तो कहूंगा कि कृषि विभाग और सहकारिता विभाग में खास तौर से कृषकों के बेटे ही नियुक्त किये जाएं। हमें इस सम्बन्ध में यह नहीं भूलना चाहिए कि यह प्रस्ताव अगर स्वीकृत हुआ तो इससे केवल भावी नियुक्तियां प्रभावित होंगी और सेवाओं के पूरे ढांचे में पचास या साठ प्रतिशत तक पहुंचते-पहुंचते एक पूरी पीढ़ी गुजर चुकी होगी।

सिद्धान्तकारों की यह दलील हो सकती है कि कॅरियर का द्वार प्रतिभा के लिए, सिर्फ प्रतिभा के लिए खुला होना चाहिए, कि किसी वर्ग के पक्ष में आरक्षण

की व्यवस्था होने पर क्षमता बुरी तरह प्रभावित होगी क्योंकि सर्वोत्तम लोगों के आने पर रोक रहेगी, कि लोकतंत्र का यह सार है कि सारे लोगों के साथ पूरी समानता बरती जाए, आदि-आदि। ऐसे कथन पर मेरा जवाब है कि प्रतिभा सिर्फ शैक्षिक या किताबी ज्ञान में नहीं होती, कि आदमी के सर्वोत्तम या कुछ और होने का निर्णय महज प्रश्न-पत्रों के उत्तरों के पूर्ववर्ती स्तर को देखते हुए नहीं बल्कि सिर्फ उसके उस काम के आधार पर किया जाना चाहिए जिसे निपटाने की उससे अपेक्षा की जाती है, और यह कि सार्वजनिक नियोजन में सभी लोगों के साथ समानता तब बरती जानी चाहिए जब समाज या लोकतांत्रिक सरकार अपने सारे लोगों को शिक्षा और प्रगति के समान अवसर दे चुकी हो। यह साफ-साफ अन्याय होगा कि पहले विशाल जनसमुदाय को आगे बढ़ने और ज्ञान प्राप्त करने के अवसरों से वंचित रखा जाए और फिर लोक प्रशासन से उन्हें अलग रखने को इस आधार पर उचित ठहराया जाए कि वे अयोग्य हैं। एकरूप शैक्षिक स्तर को तर्क-संगत तौर पर तभी लागू किया जा सकता है जबकि समान सुविधाएं उपलब्ध कराई जा चुकी हों। क्षमता के मापदंडधारियों को यह भी गौर करना चाहिए कि कथित 'शैक्षिक योग्यता' की अनिवार्यता को बिल्कुल उपेक्षित कर देने का मेरा आग्रह नहीं है; केवल उन्हीं कृषक-पुत्रों को नियुक्त किया जाना चाहिए जिनके पास न्यूनतम शैक्षिक योग्यता हो या जिन्होंने किसी विशेष प्रकार का शैक्षिक स्तर प्राप्त कर लिया हो। यहां यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि कुछ खास क्षेत्रों में यह विश्वास जम चुका है कि पर्याप्त संख्या में अपेक्षित योग्यता रखने वाले युवक ग्रामीण क्षेत्रों से आगे नहीं आ रहे हैं; पहले तो यह बिल्कुल निराधार है, दूसरे, अगर वे नहीं आते तो खाली जगहें दूसरे वर्गों को मिलेंगी। मैं यह कह सकता हूं कि खेतिहर वर्गों से उपयुक्त उम्मीदवार नहीं मिलने का तर्क केवल वे ही देते या दे सकते हैं जो संयुक्त प्रान्त के सिर्फ पूर्वी और मध्यवर्ती भागों से परिचित हैं, जहां शारीरिक श्रम को स्वर्ग से अवतरित ऊंची जाति के हिन्दू नीची निगाह से देखते हैं और इसीलिए सामाजिक शृंखला में धरती जोतने वाले किसान का स्थान वहां पश्चिमी भागों के किसान की अपेक्षा कहीं नीचे है।

एक आपत्ति यह भी उठाई जा सकती है कि यह अव्यावहारिक है; क्योंकि कई मामलों में यह निश्चित करना कठिन है कि कोई खास उम्मीदवार वास्तव में असली किसान का बेटा या आश्रित है या नहीं, इसलिए कि शहर में रहने वाले या किसी अन्य प्रकार का व्यवसाय करने वाले भी पटवारी के कागजात में किसान की हैसियत से दर्ज होते हैं। मेरा उत्तर है कि एक तो जिन लोगों ने जनगणना के दौरान खेती को अपने पूरक धंधे के रूप में दर्ज कराया, उनकी कुल संख्या आठ प्रतिशत से आगे नहीं जाती, दूसरे नियुक्तिकर्ता के मार्ग-दर्शन के लिए अनुभव के आधार पर कानून आसानी से बनाये या सुधारे जा सकते हैं। दुनिया-भर के

राजनेताओं को अपने-अपने देश में इससे कहीं अधिक गम्भीर प्रशासनिक समस्याओं से जूझना पड़ा है और सन्तोषजनक ढंग से वे सुलझा भी ली गयी हैं। ध्यान देने योग्य बातों में प्रमुख यह कठिनाई ही थी जिसके चलते पंजाब सरकार को, जिसने 1938 से ही कृषक वर्गों के लिए सरकारी नौकरियों में 60 प्रतिशत आरक्षण देने की व्यवस्था कर रखी थी, जाति या धर्म का हवाला देते हुए कृषक की परिभाषा देनी पड़ी थी। मुझे उम्मीद है कि संयुक्त प्रान्त की सरकार वैसी गलती नहीं करेगी और राष्ट्रीय एकता की अपेक्षाओं के अनुरूप समस्या को सुलझाते हुए कृषकों के साथ न्याय करेगी।

मैं जानता हूं कि इस प्राचीन भूमि के शहरी लोग और देहाती लोग तथा सारे वर्गों के लोग हर अच्छे या बुरे काम में एक साथ रहने के लिए बाध्य हैं और यह कि उनके बीच द्वेष उत्पन्न करना एक अपराध है; लेकिन किसी-न-किसी बहाने ग्रामीण और खेतिहर वर्गों को—हमारे स्वास्थ्य की विरासत लिये चलने वाले और हमारे राष्ट्र की युवा शक्ति के स्रोत—अपने देश के प्रशासन में उनकी उचित भागीदारी से और इसी से सम्बद्ध सत्ता और संरक्षण से वंचित करना उससे बड़ा अपराध है। सार्वजनिक सेवा जहां हजारों-लाखों लोगों को आम जनता के औसत सदस्य से कहीं अधिक सुविधाएं देकर उनकी आर्थिक समस्या का समाधान करती है, वहीं यह राजनीतिक सत्ता और सर्वोच्चता का औजार भी है। इससे राष्ट्रवाद के उद्देश्य को रुकावट नहीं बल्कि गतिशीलता मिलेगी अगर सभी वर्गों के लोगों को यह अनुभव करने दें कि प्रशासनिक मशीनरी महज शहरी या गैर-कृषक लोगों का बन्द सुरक्षित स्थान नहीं है या शिक्षा और जीवन की सारी अच्छी चीजों पर मुट्ठी-भर लोगों का एकाधिकार नहीं है, बल्कि वे धरती की सारी सन्तानों की विरासत हैं। अतः मौजूदा असन्तुलन को खत्म होना ही है।

यह हो सकता है कि पक्के लोकतंत्रवादी या दूसरे लोग व्यंग्यपूर्ण ढंग से ऊपर वर्णित आपत्तियों के अलावा कुछ और आपत्तियां गढ़ लें। हालांकि दलीलों पर दलीलें भी हैं, मैं सिर्फ यही कह सकता हूं कि कृषक समाज के जायज दावों को बहुत ही लम्बे समय से सम्पत्तिशाली और शिक्षित वर्गों—सुविधाभोगी और गैर-कृषक वर्गों—के हितों का पिछलग्गू बनाकर रखा गया है; कि यह किसान ही हैं जो हर व्यक्ति के हित का मूल्य चुकाता है और प्रांतीय प्रशासन का लगभग पूरा बोझ अपने कंधों पर उठाता है। इसलिए ऐसे सभी लोगों को, जिनका प्रदेश के भाग्य-निर्माण में किसी प्रकार का नियंत्रण है तथा जो दिल से किसानों का हित चाहते हैं, यह देखना चाहिए कि सरकारी सेवाओं में नियुक्ति के मामले में उसके साथ न्याय हो। 'ह्वीट मार्केटिंग रिपोर्ट' के लेखक किसी अन्य सन्दर्भ में कहते हैं, "इस तरह के कार्य के अभाव में किसान के कल्याण की भावना को शक की नजर से देखा जा सकता है।" रॉयल कमीशन ऑन एग्रीकल्चर के एक सदस्य और

'इण्यिन पीजेण्ट' के लेखक डॉ० एन० गांगुली भी उसी भाव से यह शिकायत करते हैं :

"देश के सार्वजनिक क्षेत्र में शहरी तत्त्व का प्रभुत्व है। किसान की आवाज यहां सुनी नहीं जाती। फिर भी भारतीय जनता के लगभग पचहत्तर प्रतिशत का प्रतिनिधित्व करता है। ग्रामीण क्षेत्रों से आये कुछ कांग्रेस जनों को छोड़ यहां हर आदमी किसान की बस मुंह से सेवा करता है। कोई भी उसके हितों की चिन्ता करने वाला नहीं है।"

मैं जिस उद्देश्य की वकालत कर रहा हूं उसकी पूर्ति में मेरा यह कहना सहायक होगा कि मैंने कुछ भी नया या विस्मयकारी नहीं कहा है; कांग्रेस सरकार ने खुद अपने पिछले अल्पकालीन कार्यकाल के दौरान कुछ नौकरियों में आरक्षण के सिद्धान्त को स्वीकार किया था, इस रूप में कि विभिन्न विभागों की दस नौकरियों में से एक किसानों की सन्तानों के लिए आरक्षित रहे। यह आरक्षण हालांकि बहुत कम था और उस पर तुर्रा यह कि एक बड़ा मजाक बनकर रह गया क्योंकि व्यवहारतः प्रशासन के सुर से इसका कोई मेल नहीं है। अगर इसे महज यों ही निष्प्रभावी नहीं रहने देना है और अगर यह वास्तव में कृषक वर्ग के लिए लाभकारी है, तो मैं चाहूंगा कि इसका विस्तार हो, उन्हीं कारणों से जिनसे हमारे नेता इस दिशा में सोचने लगे थे।

अन्त में, यही पिछली 29 जनवरी 1947 की बात है जब माननीय प्रधानमंत्री* पंडित गोविन्दबल्लभ पंत ने विभागीय अधिकारियों के लखनऊ में आयोजित विकास सम्मेलन के अवसर पर अपने उद्घाटन भाषण में सभी मानवीय सन्दर्भों में मनोवैज्ञानिक तत्व का प्रथम स्थान होने पर बल दिया था। राष्ट्र-निर्माण विभागों की लक्ष्यपूर्ति में विफलता पर बोलते हुए उन्होंने कहा :

सारे विभाग यहां हवाबन्द डिब्बे की तरह हैं। हर विभाग एक कृत्रिम वातावरण में काम कर रहा है और बेचारा गरीब ग्रामीण कुछ ऐसे लोगों की परस्पर-विरोधी अपीलों से हैरान है जो वास्तव में न तो उसके खुद के जीवन में भागीदारी रखते हैं और न ही उसकी सेवा की भावना से अनुप्राणित हैं। आपको उसे यह अहसास करा देना है कि आप और हम उसके शुभचिन्तक हैं और उसकी सेवा के इच्छुक हैं। जब तक आप यह नहीं करेंगे, हमारी

* उन दिनों प्रदेशों के मुख्यमंत्री भी प्रधानमंत्री कहलाते थे।

अपीलें व्यर्थ जायेंगी, इनकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होगी। और, यह कहने के लिए मुझे क्षमा करें कि आप अपने कालरों, पैण्टों और टोपों से कोई सहज प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकते''' मैं व्यक्तिगत रूप से सोचता हूं कि समय आ गया है जब हमारे अफसर दौरे पर निकलें तो सरकारी बंगलों (इन्सपेक्शन हाउस) में जाने के बजाए किसान परिवार के साथ रहें। इससे निश्चय ही कुछ असुविधाएं और दिक्कतें होंगी, लेकिन उनका काम बहुत ही आसान हो जाएगा। ये सब मामूली और छोटी-छोटी बातें हैं जो वास्तव में व्यक्तियों और समूहों की मानसिक रुझान को बड़ी और कठिनतम समस्या की तरफ ले जाती हैं। आप बस बटन दबाइए और देखें कि मीलों तक फैले क्षेत्र पर रोशनी जगमगा रही है। इसी तरह का मामला यहां है। अगर आप ठीक ढंग से बटन का प्रयोग करेंगे तो अपने चारों तरफ चमकता प्रकाश पायेंगे और आपको यह देखकर विस्मय होगा कि कितनी आसानी से आपने उसके मन और सोचने के ढंग को बदल दिया है।

प्रधानमंत्री ने उंगली सही जगह पर रखी है। हमारी सेवाएं जिस बीमारी से ग्रस्त हैं, उसका सही निदान किया गया है। लेकिन आदर के साथ मैं यह बताना चाहूंगा कि उनकी यह अपील हमारे अफसरों पर बेकार जाएगी। सिर्फ वे ही लोग किसान की जिन्दगी में भागीदारी कर सकते हैं या उसके साथ रात गुजार सकते हैं, जो घुटने तक धोती पहनने वाले किसान के घर में पला है। वे ही लोग आज सही बटन दबाकर उसके जीवन को आलोकित कर सकते हैं और उसके आस-पास के अंधेरे को दूर कर सकते हैं जो उसके आर्थिक हितों, सांस्कृतिक सम्बन्धों और मनोवैज्ञानिक सदृश्यता के जरिये जुड़े हुए हैं। वे ही लोग किसान या ग्रामीण के दिल को या उसकी कल्पना को छू सकते हैं जिनकी हर चीज के प्रति प्रतिक्रिया ठीक वैसी होगी जैसी उसकी, किसी भी तरह से भिन्न नहीं। अतः हमें एक कदम आगे बढ़ना है और उपदेश सुनने के लिए रुक नहीं जाना है; नियोजन के स्रोत को बदलना है।

लखनऊ चरण सिंह
21 मार्च 1947

निर्देशिका

अधिवासी, 8-18, 47, 63, 76; को सीरदार का दर्जा, 8-9; का भूमिधरी दर्जा, 71; के प्रति सरकारी नीति, 68; की बेदखली 67; की समस्या, 63-69
अंसारी समुदाय, 57-59
अलबर्ट मायर, 100
अलगू राय शास्त्री, 78
अखिल भारतीय कांग्रेस कार्यकारिणी समिति, 67, 111
अलीगढ़, 68,200
ऑल इंडिया एग्रीकल्चरल सेन्सस, 51
आर्थिक गुप्तचर्या और सांख्यिकी विभाग, 154
आम चुनाव (1957), 188
आसामी, 8-10, 37, 74
इलाहाबाद, 57,59, 68, 104
उत्तर प्रदेश में वित्तीय संसाधन, 153
उत्तर प्रदेश फार्म प्रबंधन सर्वेक्षण की रिपोर्ट, 183
उत्तर प्रदेश भूमि सुधार (पूरक) कानून, 37
उत्तर प्रदेश पंचायती राज एक्ट, 11
उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन समिति, 37
उत्तर प्रदेश टेनेन्सी एक्ट, 2,52
उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार कानून, 84-87
उदल, 104
एन. पी, चटर्जी, 45
एस. एस. गुप्त, 156
कृषि आयकर कानून, 122, 128-129
कृषि श्रमिक, 154-55
कानपुर, 107
कायस्थ, 58
केरल एग्रेरियन रिलेशंस बिल और उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन एवं भूमि सुधार कानून का तुलनात्मक अध्ययन, 103
कमजोर तबकों को भूमि सुधार से लाभ, 155
कुमाऊं जमींदारी और भूमि सुधार बिल, 108-110
के. एम मुंशी, 122
कांग्रेस पार्टी, 55,63
काश्तकारी जोतें, 135
काश्तकारों के साथ विश्वासघात, 188
काश्तकार प्रमुख, 63-65, 68, 73, 76-77
कमलापति त्रिपाठी, 61, 105

खेतिहर काश्तकार (विशेषाधिकार अधिग्रहण) कानून, 10
खतौनी, 42
खुदकाश्त, 9, 38, 77, 81
ग्राम पंचायत, 61
गांव सभा, 11
गांव समाज, 72, 85, 112
गांव समाज नियम पुस्तिका, 11
गाजीपुर, 86, 106
गोखले इंस्टीट्यूट ऑफ पालिटिक्स एण्ड इकनॉमिक्स की रिपोर्ट, 47
गुन्नार मिर्डल, 152
गुलजारी लाल नंदा, 90, 181
गोविंद वल्लभ पंत, 1,30, 61, 79-80, 108-11, 180
गेंदा सिंह, 15, 124, 189
गणेशराम यादव, 60
घोसी सामुदायिक विकास प्रखंड, 154
चलपति राव, 122
चरण सिंह, 2-3, 10-12, 14, 18-19,34,70,79, 80 90,100, 108-109; जन्म 226; कैबिनेट मंत्री नियुक्त, 1; संसदीय सचिव नियुक्त, 1; जवाहर लाल नेहरू से मुलाकात, 116-17; जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार विधेयक की आलोचना के उत्तर, 20-36; मंत्रिमंडल से इस्तीफा, 140; किसानों की समस्याओं पर अडिग रुख, 95-96; पटवारियों के इस्तीफे पर वक्तव्य, 39-40; गरीबों के लिए संघर्ष, 55-60; भदोही का दौरा, 64; जी. बी. पंत को पत्र, 61-62; नेशनल हेराल्ड के संपादक को पत्र, 123-148; संपूर्णानंद को पत्र, 43-44; सुचेता कृपलानी को पत्र, 188-192
चकबंदी समितियां, 101
जोत हदबंदी कानून, 11,100
जागीरदार, 78
जौनपुर, 86
जोत भूमि-कर, 169-73
जगमोहन सिंह नेगी, 109
जवाहर लाल नेहरू, 40 111, 187; चरण सिंह को पत्र, 119-21; संपूर्णानद को पत्र, 88-96; जी. बी. पंत को पत्र, 81-82
जे. निगम, 198
जनगणना अधीक्षक की रिपोर्ट, 93
जमींदारों की पुनर्ग्रहण की मांग, 47-48
जमींदारी उन्मूलन का मुआवजा, 23-25, 62-64
जमींदारी उन्मूलन कोष, 10,114, 178, 190
जमींदारी उन्मूलन समिति, 2, 25-26; सिफारिशें, 4-7; रिपोर्ट, 3, 94-95, 178
जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार, कानून, 9-10, 12, 18, 55, 63, 85-86, 153, 178; और अधिवासी, 63-64; संशोधन, 9, 15-16; पक्ष में तर्क, 64-73; से हरिजनों को लाभ, 93-94; उद्देश्य, 6-7
जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार विधेयक, 10-11, 14 183; तर्क 79-80; विषय समिति, 14;

आलोचना, 14-15; उत्तर प्रदेश में लागू होना, 35; आपत्तियां और उत्तर, 21-37; पारित होना, 72; समाजवादी आलोचक, 22
टी. टी. कृष्णमाचारी, 178
टेनेन्सी एक्ट (1939), 67
ठाकुर, 11, 57
देवरिया, 59, 127
द्वारका प्रसाद पांडेय, 45
देहाती क्षेत्र की आय, 153-154
तराई क्षेत्र में भूमिधरी योजना, 195
तीसरी पंचवर्षीय योजना, 151
नरेन्द्र देव, 25
नेशनल काउंसिल आफ एप्लायड इकनॉमिक रिसर्च, 157
नेशनल सैंपल सर्वे, 51
नैनीताल, 69
नूरपुर, 227
नीरज राय, 97
नारायण दत्त तिवारी, 110
पिछड़ा वर्ग सम्मेलन, 92
पूंजीपति, 22-24
पारिवारिक श्रम की आय, 159
पटवारियों की गलती, 37-41
प्रजा समाजवादी पार्टी, 14-15, 41, 59
प्रांतीय शोषित संघ, 72
पी. के. टंडन, 132, 138
पंचायती राज कानून, 11
फार्म व्यवसाय की आय, 157
फार्म प्रबंधन सर्वेक्षण, 157; फार्म प्रबंधन सर्वेक्षण की रिपोर्ट, 159
फोर्ड फाउंडेशन टीम, 193
बदायूं, 57
बहराइच, 68
बनारस, 37, 72
बस्ती, 126; बस्ती की आर्थिक अवस्था, 154-155
बाम्बे टेनेन्सी एण्ड एग्रीकल्चरल लैंड एक्ट, 51
ब्राह्मण, 15, 18, 60, 62
बुंदेलखंड, 129, 136-37
बड़े फार्मों की हदबंदी, 141
बड़ी जोतभूमि-कर कानून, 180
बड़ी जोतभूमि-कर, 142, 181; सामाजिक न्याय साधन, 181
बलजीत सिंह, 160
बस नारायण सिंह, 61
भाभर में भूमिधरी योजना, 195-98
भूमिधर, 7,20, 58, 65; का शोषण, 33; प्रति भूमिधर जोत, 10; के अधिकार, 26-27
भारतीय जनगणना, 91-92
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का नागपुर प्रस्ताव, 151
भूमि अधिग्रहण कानून, 12
भूमि हदबंदी, 123-147
भूजोतों की हदबंदी, 184
भूमिहीन श्रमिक, 30-31
भूमि प्रबंधन समितियां, 12-13, 42, 62, 85, 132
भूमि रिकार्ड सुधार अभियान, 41-46
भूमि रिकार्ड मैनुअल, 39
भूमि सुधार आयुक्त 43, 131
भूमि सुधार (पूरक) कानून, 68, 70-71, 77
भूराजस्व, 164; भूराजस्व और

आयकर की तुलना, 166-77
भूमिकर में वृद्धि, 151-189
भूमिकर विधेयक, 159
भूमि उपयोग विधेयक, 10,34, 170
भगवानदास मिश्र, 57
भारतीय सेंसस आपरेशन के महानिदेशक, 50
भानुप्रताप सिंह, 146
महात्मा गांधी, 24; कृषकों की भूमिका पर, 25
मंजूरीदार, 65
मेरठ, 159
मुस्लिम लीग, [illegible]
मुजफ्फरनगर, 159
मध्यवर्ती मैदानी प्रभाग, 92
मुनेश्वर दत्त उपाध्याय, 91
यादव, 98
यू. पी. एनकंबर्ड इस्टेट्स एक्ट, 17
यू. पी. टेनेन्सी एक्ट, 2
योजना आयोग की शोध कार्यक्रम समिति, 162
रामपुर, 37
रामेश्वर लाल, 14
राष्ट्रीय योजना आयोग, 10,101
राजपूत, 79
राजस्व विभाग, 85, 132
रूस, 21-28
राजाराम शर्मा, 44-45
राज्य पटवारी संघ, 39
राज्य व्यापार, 114-116
लार्ड कार्नवालिस, 178
लुइस फिशर, 25
लेनिन, 22
लेखपाल, 41; के कर्तव्य, 38; पर भ्रष्टाचार के आरोप, 43
विनोबा भावे, 69, 95, 129
विकेन्द्रीकरण, 32-33
विकास शुल्क, 179-180, 183
वुल्फ लेडजिस्की, 200-201; के विचार भूमि रिकार्ड पर, 45-46
वरिष्ठ प्रशासकीय अफसरों का सम्मेलन, 171
वी. बी. सिंह 136, 138, पुनर्वितरण पर विचार, 139
श्रीकांत आप्टे, 96-97
श्यामधर मिश्र, 62, 91
शोषित संघ, 60,
शहरी आय, 151-152
सी. बी. गुप्ता, 158
सहकारी कृषि, 112-17; अनिवार्य सहकारी खेती 31-32; पर गांधी जी के विचार, 112-13; का प्रस्ताव, 111
सघन कृषि विकास कार्यक्रम, 102, 192
सिंचाई विभाग, 175
सिंचाई शुल्क पर छूट, 177-78
सयुक्त प्रवर समिति, 6
सुचेता कृपलानी, 15, 38, 54
सुखदेव प्रसाद, 45
संपूर्णानंद, 53, 56, 58, 100, 105; का पत्र नेहरू को 91; का पत्र जी. बी. पंत को, 56-60
सीर, 9, 63, 66, 69, 70-71, 75

सीरदार, 6-14, 66, 69, 72, 75, 77-78, 85, 165
सोशलिस्ट पार्टी, 102
संयुक्त राष्ट्र संघ, 156
सलाहुद्दीन उस्मान, 98
हरिजन, 12-13
हदबंदी कानून, 159; की आलोचना, 18-19

चौधरी चरण सिंह : एक परिचय

चौधरी चरण सिंह का जन्म 23 दिसम्बर 1902 को जिला गाजियाबाद. उत्तर-प्रदेश के नूरपुर ग्राम में हुआ था। चौधरी साहब देश के उन प्रमुख राजनेताओं में थे, जो आजादी के पूर्व पैदा हुए थे। आजादी के बाद से 1970 के मध्य तक, वह उत्तर प्रदेश के बेहद प्रख्यात नेता रहे। इस दौरान उन्होंने उत्तर-प्रदेश विधान सभा में संसदीय सचिव, राजस्व मंत्री, सूचना, विधि एवं न्याय, कृषि, वन, सिंचाई एवं गृह जैसे महत्त्वपूर्ण मंत्रालयों का दायित्व संभाला और दो बार वह प्रदेश के मुख्य मंत्री रहे। 1977 में केन्द्र में आने से पूर्व वह उत्तर-प्रदेश विधान सभा में विरोधी दल के नेता थे।

चौधरी चरण सिंह ने उत्तरी भारत की पिछड़ी जातियों में राजनीतिक चेतना पैदा की और उन्हें सत्ता के नये शक्ति-केन्द्र के रूप में उभारा। इसके परिणामस्वरूप हिन्दी भाषी क्षेत्रों में विपक्ष को सबल आधार मिला और छठे दशक के उत्तरार्द्ध में उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, हरियाणा, राजस्थान आदि राज्यों में संविद सरकारें अस्तित्व में आईं।

आपातकाल के बाद वह राष्ट्रीय राजनीति के फलक पर आये और देश के गृहमंत्री, वित्त मंत्री, उप-प्रधानमंत्री तथा प्रधानमंत्री बने। जीवन के अंतिम 16 वर्षों में वह राष्ट्रीय स्तर पर किसानों, पिछड़ों और दलितों के निर्विवाद नेता रहे।

क्योंकि वह एक साधारण किसान परिवार से आए थे, अतः अभिजात्य वर्ग के लोगों ने, जिनका आर्थिक-सामाजिक रूप से आधिपत्य कायम है, उनका लगातार विरोध किया तथा उनके विरुद्ध प्रचार किया।

देश की बुनियादी समस्याओं पर चौधरी साहब की पकड़ थी। इन समस्याओं के बुनियादी चरित्र को दृष्टिगत रखते हुए ही उन्होंने अपने आर्थिक दर्शन की रचना की और उसका विकास किया। युवावस्था से ही चौधरी साहब ने देश की सामाजिक-आर्थिक समस्याओं पर लेख लिखने शुरू कर दिए थे। आर्थिक विचार-धारा पर लिखी उनकी पुस्तकें काफी लोकप्रिय हुई हैं, जिसमें 'इकोनॉमिक नाइटमेयर ऑफ इंडिया : इट्स कॉजेज एण्ड क्योर' (भारत की भयावह आर्थिक स्थिति : कारण एवं निदान) मील का पत्थर मानी जाती है। उल्लेखनीय है कि यह पुस्तक अमेरिका के हार्वर्ड विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के पाठ्यक्रम में शामिल है।

दरअसल चौधरी साहब केवल राजनीतिज्ञ ही नहीं, एक चिंतक भी थे। किसान ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित 'चौधरी चरण सिंह : विशिष्ट रचनाएं' नामक पुस्तक इस बात का जीवंत प्रमाण है, जिसमें 50 वर्षों के दौरान सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों पर लिखे उनके लेखों को संकलित किया गया है। इस पुस्तक में लिखे लेख इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक मुद्दों पर उनके विचार कितने गम्भीर और व्यापक थे।

चौधरी चरण सिंह द्वारा रचित कृतियां

शिष्टाचार (1941)
एबोलिशन ऑफ जमींदारी (1947)
जमींदारी उन्मूलन (अनुदित)
हाउ टू एबोलिश जमींदारी : ह्विच एल्टरनेटिव
सिस्टम टू एडॉप्ट (1958)
एग्रेरियन रिवोल्यूशन इन यू० पी० (1958)
उत्तर-प्रदेश की भूमि व्यवस्था में क्रांति (1958)
हमारी गरीबी कैसे मिटे ? (1961)
इंडियाज पॉवर्टी एण्ड इट्स सोल्यूशन (1964)
इण्डियाज इकोनॉमिक पॉलिसी : दि गांधियन ब्ल्यूप्रिंट (1978)
भारत की अर्थनीति : गांधीवादी रूपरेखा (अनुदित)
इकोनॉमिक नाइटमेयर ऑफ इंडिया : इट्स कॉजेज एण्ड क्योर,
प्रथम संस्करण (1981), द्वितीय संस्करण (1984)
भारत की भयावह आर्थिक स्थिति : कारण एवं निदान (अनुदित)
भारत का आर्थिक पतन: कारण एवं समाधान (1984)
राष्ट्र की दशा
प्रथम संस्करण (1985), द्वितीय संस्करण (1986)
लैण्ड रिफॉर्म्स इन यू० पी० एण्ड दि कुलक्स (1986)
आर्थिक विकास के सवाल और बौद्धिक दिवालियापन (1986)

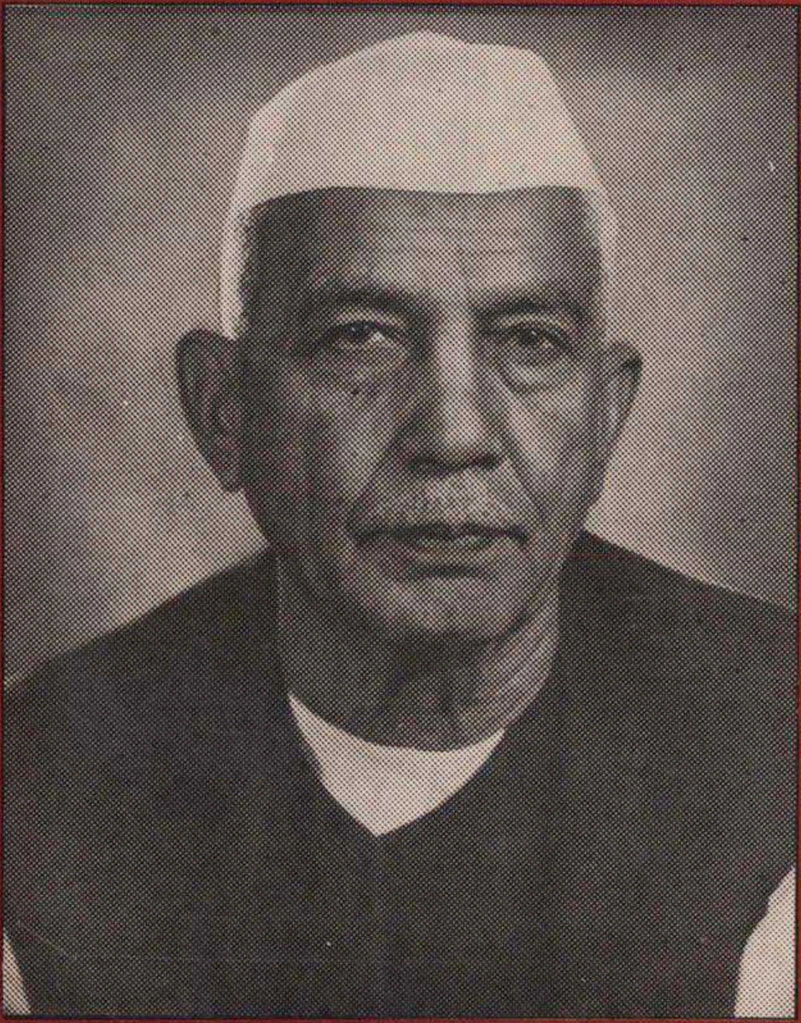

(23 दिसम्बर 1902–29 मई 1987)

किसान ट्रस्ट, नई दिल्ली